रवीन्द्र प्रकाशन : इलाहाबाद-२

आशापूर्णा देवी

अतिक्रान्त...............

मानव जीवन में ऐसे क्षण अक्सर आते हैं, सहज स्वाभाविक रूप से आते हैं, अपने आप आते हैं, जब अतिक्रान्त या सहनशक्ति की सीमा का उल्लंन हो ही जाता है। लेकिन तब आवश्यकता होती है—मन के संतुलन और दृढ़ संकल्प की। तब भी अगर मन संतुलित रहा व संकल्प सशक्त रहा तो अतिक्रान्त की भी स्थिति सीमाबद्ध हो कर व्यवस्थित हो जाती है। लड़खड़ाते कदम भी स्थिर हो जाते हैं।

शकुन्तला, पराशर और संतोष तीनों ही अतिक्रान्त होने के दोषी हैं। लेकिन सीमा का उल्लंघन करके भी कहीं किसी का अहित नहीं हुआ।

तीन पात्रों के त्रिकोण का यह अतिक्रान्त—और फिर संतुलन की कथा......

ऐसी विषम परिस्थिति का निर्माण और उसका समाधान भी, यह आशापूर्णा देवी जैसी सिद्ध लेखनी की सम्राज्ञी की सधी कलम का ही चमत्कार है।

अपने ढंग की रोचक-अनुपम कथा।

अतिक्रान्त

एक

गाड़ी वापस भेजनी पड़ी।

शकुन्तला ने यह कभी सोचा ही न था, सोच ही नहीं सकी थी कि उसका कोख-जाया बेटा बिल्टू उसके साथ ऐसी दुश्मनी करेगा। हाय, हाय, हाय! इतने दीर्घ दिनों की साधना के पश्चात्, सिद्धि जब हाथ आई, उसी क्षण, हाथ से छिटक कर दूर जा गिरी। दूर-दराज सागर से खे-खे कर नाव जब किनारे लगने को हुई, तभी कीचड़ में जा फँसी! प्यास से तड़पती वह जैसे ही परिपूर्ण पानपात्र होठों से लगाने लगी, पानपात्र टूट कर चकनाचूर हो गया! और इस गजब की वजह क्या है? वजह और कोई नहीं—शकुन्तला ने जिस पुत्र को जन्म दिया है वही है इन मुसीबतों का कारण। हाय बेचारी शकुन्तला! इस क्षोभ को वह रखे कहाँ?

गाड़ी वापस जाने के बाद पौत्र को ले टहलाने चले गये हैं निशिकान्त। शर्म और दुःख से पीड़ित, डरा, घबराया सन्तोष कहाँ जा छिपा है यह पता नहीं। मन में उफनती खुशी मन में दबा ननीबाला भण्डार में जा डिब्बे-अचारियों को झाड़ने-पोंछने लगी हैं। और शकुन्तला? किसी तरफ देखे बिना धड़धड़ाती हुई अपने कमरे में जा गुम-सुम बैठी तकदीर को कोस रही है।

क्या करे वह? किस पर गुस्सा उतार कर दिल का गुबार निकाले? बेटा अपना है, पर शकुन्तला को यह हक भी हासिल नहीं कि उसे एक झापड़ जड़ दे। अगर उसने भूल से भी ऐसा किया तो दो दिशाओं से वे दोनों आ जायेंगे, शकुन्तला की कुण्डली बाँचने के लिये। यह तो केवल अन्तर्यामी ईश्वर ही जानते हैं कि उस दिन, उस वक्त बेटे को उठा कर पटक देने की इच्छा शकुन्तला ने कैसे-कैसे रोकी थी।

बहुत देर तक गुम-सुम बैठी रही वह। होश ही न रहा कि वह कुछ सोचे कि आगे क्या करना है, कैसे करना है। जब कुछ शान्त हुआ मन, तो उसने उस कमरे के चारों ओर निगाह दौड़ाई।

मकान उसके ददिया ससुर के जमाने का था। अतः काल के चिन्ह उसकी खिड़कियों, दीवालों और किवाड़ों पर स्पष्ट हो रहे थे। उन पुरानी दीवालों को छेद-छेद कर हजारों कीलें ठोंकी गई हैं, जिनके सहारे तैंतीस करोड़ देवी-देवताओं के चित्र लटक रहे हैं। धूल, धुआँ और समय की मेहरबानी से चित्रों के देवतागण विवर्ण और मलिन हो चले हैं। हालत इतनी बदतर हो गई है कि चित्र में अंकित देवता कौन हैं

यह भी समझ पाना दुश्वार है। सिर्फ, सामने वाली दीवाल पर नारायण के अनन्त-शयन का जो चित्र है वही कुछ हद तक साफ है। और पता नहीं क्यों, यही चित्र है जिससे शकुन्तला को सबसे ज्यादा नफरत है। दिक्कत यह है कि उसे यह भी अधिकार नहीं कि इन चित्रों को वह उतारे या इधर-उधर करे। ननीबाला ने साफ ही मना किया है। शकुन्तला की अब इच्छा भी नहीं होती कि इस मुद्दे पर बगावत करे और अपना कमरा अपने मन-मुताबिक सँवारे। इस घर को घर मानने की प्रवृत्ति ही नहीं होती उसकी।

वहीं बैठे-बैठे शकुन्तला ने कमरे के चारों ओर नजर डाली। कीलों से घायल दीवाल, छत से लटकता रजाई-कम्बल का बण्डल, दो तरफ की दीवालों से सटायी बेंचों पर छोटे-बड़े बक्सों का रेला। तीसरी दीवाल से लगाये तख्तपोश पर उसका विस्तर। पिछले आठ-दस दिनों से सन्तोष यहाँ है इसलिये बिस्तरे का ऐश्वर्य बढ़ाने के लिये नये चादर, गिलाफ लगाये गये हैं, पर यह ऐश्वर्य तो विलुप्त हो जायेगा, आज नहीं तो कल। सन्तोष चला जायेगा। पड़ी रहेगी शकुन्तला और पड़ा रहेगा उसका कुचड़ा-मुचड़ा अर्धमलिन बिस्तरा। जिस बेटे के लिये उसे यहाँ रुकना पड़ रहा है, वह भूल कर भी कभी माँ के पास सोता नहीं। अतः इस लम्बे-चौड़े तख्त पर का एकाकी-पन उसे अकेले ही भुगतना पड़ता है।

ईर्ष्या? हाँ, ईर्ष्या ही होती है शकुन्तला को। सास और ससुर जो उसके बेटे पर अपनी जान छिड़कते हैं, इस बात पर शकुन्तला को खुशी नहीं। इसी बात ने उसका सुख-चैन सब छीन लिया है। जब-जब वह अपने बेटे को आगोश में भरने का प्रयास करती है तब-तब वह उसे नोच कर, मार कर गोद से फिसलता भाग खड़ा होता है। साफ ही कहता है—'तुम गन्दी हो, तुम्हारे पास नहीं रहना मुझे।' इस हालत में शकुन्तला का क्या करने को मन चाहता होगा? मजबूरी यह है कि ऐसे ही अकृतज्ञ जीव के लिये शकुन्तला को यहाँ रहना पड़ रहा है, इस गलीज परिवेश की कैद भुग-तनी पड रही है। उसी बेईमान के लिये आज शकुन्तला को स्वर्ग-दर्शन कराने वाली गाड़ी भी वापस कर दी गई।

शकुन्तला की शादी को पाँच वर्ष हुये हैं, और लगातार पाँच वर्षों से वह यहाँ कैद है। सन्तोष कलकत्ते रह कर नौकरी करता है, छुट्टी होने पर यदा-कदा घर आता है। पति कलकत्ते के मेस का निवासी, पत्नी गाँव की। मतलब यह कि बाबा आदम के जमाने से चली आ रही ग्रामवधू की भूमिका निभा रही है शकुन्तला। यह वही शकुन्तला है जो शादी से पहले कलकत्ते के दक्षिण उपनगर की एक चहकती-महकती उज्ज्वल नक्षत्र थी।

यह तो शकुन्तला का दुर्भाग्य है कि शादी होते न होते उसके पिता चल बसे। माँ तो उसके बचपन में ही दुनिया छोड़ चुकी थीं। पीहर की राह पर काँटे बिछ गये।

इधर सन्तोष की समस्या यह थी कि शादी होते न होते पत्नी को शहर ले जाकर घर बसाने की बात उससे सोची भी न जाती। वह तो निहायत ही भला बेटा है न! यह नहीं कि उसकी आमदनी अच्छी नहीं, चाहे तो अलग घर बसाने की सामर्थ्य उसमें बखूबी है—पर ऐसा ही है उसका स्वभाव कि माँ-बाप के आगे सिर उठाने का वह साहस ही नहीं रखता। शादी होकर शकुन्तला जब आई थी, उसने तभी पति से कहा था, 'मुझसे यहाँ नहीं रहा जायेगा। इस कुयें में तो मेरा दम ही घुट जायेगा। मर जाऊँगी मैं।' तब सन्तोष ने आश्वासन दिया था, 'अभी कुछ दिन यहाँ रहो, नहीं तो माँ, बाबूजी को बहुत दुख होगा। फिर तो समझो, तुम हो और मैं हूँ।'

लेकिन भाग्य की विडम्बना! सन्तोष के कहे पर कुछ दिन जाते न जाते बिल्टू के आगमन की सूचना मिली। बिल्टू का आगमन हुआ। ऐसी कोफ्त हो रही है शकुन्तला को इस वक्त कि जी चाह रहा है कि बिल्टू न पुकार बिच्छू पुकारे। बेटा तो नहीं, दुश्मन पैदा हुआ है शकुन्तला की कोख से! दादी-बाबा को ऐसा पहचाना उसने कि उनके पास से उसे ले आने का जैसे सवाल ही नहीं पैदा होता।

क्रोध से उफनती, शकुन्तला ने एक बार कहा भी था कि ऐसा ही है तो सभी को कलकत्ता ले चलो। इस पर सन्तोष ने हँस कर कहा था, 'माँ-बाबू, गाँव छोड़ कलकत्ते जायेंगे? तब तो फिर हो चुका।'

'ऐसा क्यों भला? गाँव छोड़ कोई शहर में जाकर बसता नहीं?'

'बसते क्यों नहीं? जरूर बसते हैं। पर, जहाँ तक माँ-बाबू का सवाल है, यह किसी भी हालत में मुमकिन नहीं।'

तो फिर शकुन्तला का क्या हो? यहाँ, इसी जगह दफना दी जाये वह? नहीं, यह नहीं हो सकता। शकुन्तला ने भी प्रण किया है कि सन्तोष का मन बदलेगी ही, यहाँ से जायेगी ही।

पत्र नामक कागज के असंख्य टुकड़ों पर स्याही की असंख्य रेखाओं और आँसू की असंख्य बूँदों के सम्मिलित आक्रमण से सन्तोष को हथियार डालना ही पड़ा था। वह राजी हुआ था। दूसरी तरफ, असंख्य शब्दों का जाल बुन-बुन कर उसके माता-पिता को भी राजी कराया जा सका था।

अतः छुट्टी ले सन्तोष आया था पत्नी और बेटे को ले जाने के लिये।

काम जितना आसान लग रहा है, उतना आसान था नहीं। माँ-बाबू को राजी करने के लिए बहुत दिनों से उसे बहुत कुछ कहना-करना पड़ा था। कलकत्ते में, वह जिस मेस में रहता है उसमें उसके बगल वाले कमरे में जो सज्जन रहते हैं वे मलेरिया के शिकार हैं। दबी जबान से उन्हें सन्तोष ने टी. बी. का मरीज बताया है। यह कहना सन्तोष के गले से नहीं उतर रहा था। लेकिन शकुन्तला ने अपनी लम्बी बरौनियों वाली काली आँखों से बिजली गिराते हुये जब कहा, 'मुझे अपने करीब पाने के लिये इतना भी नहीं कर सकते तुम?' तब तकदीर ठोंक कर सन्तोष ने कह ही डाला था। साथ ही यह भी कहा था कि दूसरा मेस खोजते-खोजते हैरान हो गया

है पर कही किसी अच्छे मेस का पता नही चला है। हो सकता है, मजबूर हो उसे मकान ही लेना पड़े।

मकान लेने के विपरीत ननीबाला और निशिकान्त काफी सारगर्भित तर्क तथा तथ्य प्रस्तुत कर सकते थे, लेकिन इतने स्वार्थी वे नहीं कि अपने सुख के लिये वे बेटे की सेहत का ध्यान न रखें, टी. बी. के मरीज के साथ रहने को उसे मजबूर करें। अतः उन्होंने इस बात को समझा और स्वीकार किया कि सन्तोष के कलकत्ते में किराये पर मकान लेने का तात्पर्य यही है कि बहू और बिल्टू भी कलकत्ते जायेंगे।

इतना कुछ हो चुकने पर भी सारा इन्तजाम उलट-पुलट गया। और वह भी महज बिल्टू की कृपा से।

उस बन्दर की समझ में जिस क्षण यह बात आई कि गाड़ी में बैठ सिर्फ वह और मम्मी-पापा कलकत्ते जायेंगे, दादी और बब्बा यहीं रहेंगे, लगा वह दंगा मचाने। इतना रोया, इतना हल्ला-हंगामा मचाया कि तोबा-तोबा! तीन साल के एक दुधमुँहे बच्चे मे तीस साल के जवान की सी ताकत कहाँ से आ गई! उसकी उस ताकत की उठा-पटक को देख कर सन्तोष को काठ मार गया, शकुन्तला घबरा गई, निशिकान्त व्याकुल और ननीबाला उल्लसित। ऐन मौके की इस नटराज-लीला के पीछे उनका कुछ हाथ हो तो कोई ताज्जुब नही। आखिरकार, यह जिम्मेदारी तो उन्ही ने ली थी कि बिल्टू को समझायेंगी कि गाड़ी मे बैठ पापा-मम्मी के साथ वही जायेगा, दादी-बब्बा यही रहेंगे।

नाटक के पहले अंक में बिल्टू ने सबसे पहले 'क्यों तू मुझे ले जायेगी' चीखते हुये माँ को काटा, नोचा, जूड़ा खोल दिया। फिर हाथ में जो भी बर्तन-भाण्डा आया, उसे उठा कर जमीन पर दे मारा। टूटे प्याले, पिचकी तश्तरियाँ आँगन की शोभा बढाने लगी। दूध भरी कटोरी जमीन पर लोटती रही। और अन्तिम अंक में गाड़ी में जा बैठने के बजाय बाप की मुट्ठी से अपनी कलाई छुड़ा लगा आँगन में लोटने। पिछले दिन बरसात हुई थी। इस कारण हर जगह कीचड़ हो गया था। मखमली सूट, जूता, मोजा समेत वह लगा उसी कीचड़ में लोटने और चीखता रहा, 'मैं नही जाऊँगा—नही जाऊँगा—नही ही—जाऊँगा!' सिर्फ यही एक वाक्य, मगर क्या ताकत उसमे थी कि घर भर किसी का साहस न हुआ कि तीन साल के उस नादान को समझाये या उठा कर गाडी में डाले।

गाँव-देश का परिचित गाड़ीवान। उसी ने इस नाटक का पर्दा गिराते हुये कहा, 'जाने दीजिये भैया, अब उसे और मत रुलाइये। अब तक गाड़ी भी छूट चुकी होगी। स्टेशन जाकर भी क्या होगा? बेहतर यही होगा कि कल सुबह की गाड़ी से चले जाइयेगा—हो सकता है, दिन भर के समझाने-बुझाने से यह नादान राजी हो जाये।'

बस फिर क्या? गाड़ी लेकर गाड़ीवान एक तरफ गया, रो-रोकर सूजे मुख पर मुस्कराहट बिखेर बब्बा की गोदी में चढ बिल्टू जी दूसरी तरफ सैर करने चल पड़े।

सन्तोष कहीं जा छिपा। ननीबाला भण्डार में और शकुन्तला कमरे में गुम-सुम बैठी इसी सोच में डूबी है कि फिर उसे इसी कमरे में रहना पड़ेगा। उसकी कैद की अवधि खत्म न हो सकी। वही, पहले जैसी निःसंग रातें, सुबह नींद खुलते ही अनन्त-शयन का यह चित्र, कमरे से निकलते ही दीमक-चाटे किवाड़ खोल कर बाहर तो जाना ही पड़ेगा, और बाहर जाते ही एक अत्यन्त जी मिचलाने वाला दृश्य। ननीबाला के नित्य-कर्म-सूची के प्रभाती कर्म का पहला अध्याय। देखा जायेगा कि वे उस वक्त आँगन के शुद्धिकरण में लगी हैं।

देर उठे चाहे सवेर, इस दृश्य को देखना ही पड़ता है शकुन्तला को। कारण, सुबह के समय करीब डेढ़-घण्टे तक एक बाल्टी गोबर-मिश्रित जल और एक झाड़ू के सहारे ननीबाला सारे आँगन को झाड़ती, बुहारती, धोती हैं। इतने बड़े आँगन का कोना-कोना, आँगन में उगते पेड़-पौधे और उनकी पत्तियों को जब तक वे गोबर-जल से शोधित कर नहीं लेतीं, उन्हें चैन नहीं पड़ता।

आँगन-शुद्धि का काम अगर ननीबाला चुपचाप करती होतीं तो भी एक बात थी, मगर हाथों से पानी छिड़कती, झाड़ू फेरती, सपेरों के मंत्रपाठ करने की मुद्रा में वे होठों ही होठों में बुदबुदाती रहती हैं लगातार, और यह मंत्रोच्चार शकुन्तला को देखते ही स्पष्ट और जोरदार हो उठता है। जरा ध्यान देने से ही साफ सुनाई पड़ेगा, 'यह देखो, नवाबों की बेटी को....अब खुली है इनकी नींद" लाज-शरम सब बेच खाई है....राम, राम, राम! मुहल्लेवालियाँ सारी कहती हैं—सना की माँ-चढ़े शरम की बात है, पाँच साल हो गये तुम्हारी बहू को आये हुये, और अभी तक तुम्हें यह सब करना पड़ रहा है! बहू करती क्या है? आखिर कब तक हवा में तैरती फिरेगी? काम करवाती क्यों नहीं तुम उससे? हाय मेरी तकदीर! बहू को काम सिखाऊँगी मैं? हो चुका तब तो! कैसी जीव है मेरी बहू इसका तो किसी को पता नहीं। इतना दिन चढ़ने पर, जब घर-गृहस्थी का आधा काम हो चुका है तब तो रानीजी की नींद खुली है! अब लटें फटकारती नहाने जायेंगी। नहाते न नहाते तो इन्हें चाय की प्यास लग जायेगी! काम करेंगी! हुँह!!'

चीख-पुकार नहीं करतीं ननीबाला, पर सुनाई सब कुछ पड़ता है।

प्रभात-काल की इस प्रशस्ति की परवाह शकुन्तला वैसे ज़रा भी नहीं करती। सास की आँगन-शुद्धि देखती, प्रशस्ति सुनती वह धीरे-धीरे चोटी खोलती रहती है, फिर भी बाज दिन चाय का यह रोजमर्रे का ताना चुभ जाता। कई बार सोचती—धत् तेरे! नहीं पिऊँगी चाय। लेकिन इस किस्म का गुस्सा ज्यादा दिन तक चल नहीं सकता। यहाँ जब रहना ही है तब चाय के साथ और भी चीजें खानी-पीनी पड़ती ही हैं, वक्त जरूरत कुछ न कुछ घर का काम-धाम भी करना पड़ता है।

कहाँ खो गया शकुन्तला की कल्पनाओं का वह स्वर्गलोक? जहाँ सुबह की

सुनहली किरणों के मुस्कराने के साथ ही चाय की प्यालियाँ हाथ में लिये वे दोनों आ बैठते खिड़की के करीब लगी उन दो कुर्सियों पर जिसके सामने होती एक छोटी-सी गोल मेज, जहाँ प्यालियों में भरी सुनहली चाय की तरह छलकती होतीं उनकी भावनायें !

कहाँ वह स्वर्गलोक जहाँ बिजली की हल्की नीली रोशनी और दूधिया चाँदनी से कमरा जगमगाता हो ? जिस कमरे के रंगीन बेडकवर के कोने और तकियों के गिलाफों के रंगीन झालर उड़ते हों बिजली के पंखे की हवा से। काँपते हों मच्छर-दानी के रंगीन पल्ले।

हर खिड़की पर रंगीन पर्दा, मेज पर रखे फूलदान में ताजा गुलदस्ता""रात की आबहवा में खुशबू भरता हो अगरबत्ती का धुआँ। नन्हें की खाट लगी हो शकुन्तला की ड्रेसिंगटेबल से। सफेदी की हुई दीवालों पर कहीं कोई कील का निशान न होगा—चित्र एक होगा—रवीन्द्रनाथ का, बस और होगा गिलाफ चढ़ाया सितार, जो इस समय शकुन्तला के खाट के नीचे पड़ा धूल फांक रहा है।

इस स्वर्ग की रचना अभी की जा सकती है।

इस स्वर्ग की कुंजी है सन्तोष की मुट्ठी में।

बिल्टू ? तीन साल का बच्चा ! उसकी क्या बिसात है कि वह इस स्वर्ग में जहर घोले ! क्या उसे सीधा करना इतना कठिन है ? क्या सन्तोष चाहे तो राह पर नहीं ला सकता ? अगर वह सचमुच चाहे तो बिल्टू अवश्य सीधे रास्ते पर आ जाये। अरे, हद से हद यही तो होगा कि उसे दो-चार थप्पड़ लगाने होंगे। एक बार उसे अपने अख्तियार के घेरे में ले आने के बाद शकुन्तला देखेगी कि बेटा वश में होता है कि नहीं।

शकुन्तला को सन्तोष पर इतना गुस्सा आता, इतना गुस्सा आता कि बाज वक्त उसका मर जाने का मन होता। आज इतने दिनों से जो वह अत्यन्त असहाय होने का अभिनय कर रहा है, वह तो इसीलिये न कि शकुन्तला को नीचा दिखाया जाये। ठीक है, वह भी बदला लेना जानती है। आत्महत्या करके वह सन्तोष को ऐसा नीचा दिखायेगी कि वह भी याद करेगा। अफसोस इतना ही है कि आत्महत्या की इस इच्छा को कार्यान्वित न कर सकी थी वह। करती भी कैसे ? इस जीवन में उसे कितनी आशाएँ, कितनी ही आकांक्षायें हैं। कितना कुछ पाना है, सफलता के सपनों को रूपायित करना है। सुनहले स्वप्नों भरे जीवन को इस जरा से क्षोभ के कारण खत्म करना कहाँ की बुद्धिमत्ता है ?

क्या बात है ? अभी तक दीया-बत्ती नहीं किया ? सन्तोष की आवाज में यह निहायत मामूली सवाल कमरे के अन्धेरे में थिरकता रहा। शकुन्तला की समझ में यह बात फौरन आ गई कि यह सवाल सन्तोष का नहीं, उसकी माँ ननीबाला का फेंका

हुआ है। उसका गुस्सा एक पर्दा और चढ़ा।

बेचारा सन्तोष ! देवकी पत्नी की निन्दा यह, क्योंकि नहीं कर सकता, इस कारण उसके आचरण में अक्सर अनावश्यक नम्रता और भय दिखाई पड़ता है। शकुन्तला को मगर इस प्रेम की परवाह नहीं। उसका अपना ख्याल है कि बुराई किसी ने की तो करे, मेरी जूती की नोंक पर ! बुरा का यह अपमान उससे सहा नहीं जाता।

मगर वाह रे सन्तोष ! माँ-बाप के सामने आते ही वह एकदम बौना हो जाता है।

'अब नाराज होने से क्या फायदा, बोलो ? बेटे को तुम सब दम में कर ही नहीं पाईं....' कहता हुआ सन्तोष चौकी पर बैठ गया।

क्रोध से उफनती शकुन्तला दाँत पीस कर बोली, 'मेरा कोई बेटा-बेटा नहीं।'

'अरे छिः, यह क्या कह रही हो ? नाराज होती हो तो तुम होश-हवास गंवा बैठती हो।'

'ठीक ही कहती हूँ। बेटा मेरा कहाँ ?'

शकुन्तला की पीठ सहलाते हुये सन्तोष ने स्नेह से कहा, 'क्यों नाराज होती हो ? दादी-बाबा से बहुतेरे बच्चे हिल जाते हैं, माँ-बाप से ज्यादा मानते हैं। इसमें इतना क्या खफा होना ? क्या मुझे कुछ कम बुरा लग रहा है ? कैसा बढ़िया घर मिला है। कितनी उम्मीद और उमंग से छुट्टी लेकर आया था, तुम दोनों को ले जाऊँगा, घर बसाऊँगा....'

सन्तोष का हाथ झटक कर शकुन्तला ने चिढ़कर कहा, 'कल सुबह मैं जाऊँगी—चाहे जैसे हो।'

'अभी तक तो मुझे भी इसी की आशा है। पर यह लड़का ऐसा भयंकर है, मालूम नहीं कल फिर क्या करे।'

'उससे क्या लेना-देना ? उसे मैं लेकर जाऊँगी ही नहीं, रहे वह यहीं अपने-अपनों के साथ। मैं उसके बिना ही जाऊँगी।'

सन्तोष ने इसे शकुन्तला के क्रोध का आवेश समझा। हल्की-सी मुस्कान छा गई उसके मुख पर। धीरे-धीरे कहने लगा, 'उस वक्त वाकई इस कदर गुस्सा आ रहा था कि मेरा भी जी चाह रहा था कि उसे छोड़ कर ही हम चले जायें।'

'क्या तारीफ करूँ तुम्हारी ? तुम्हारी इच्छा 'इच्छा' होकर ही रह जाती है। अपनी इच्छा को अब मैं कार्य में बदलती हूँ।' दृढ़ आत्मविश्वास से शकुन्तला ने कहा।

उदासी से सन्तोष ने कहा, 'यह तो मुमकिन नहीं।'

'क्यों ? क्यों मुमकिन नहीं ?'

'तीन साल के बच्चे को छोड़, परदेश जाकर बसें उसके माँ-बाप ? यह कभी हो सकता है ?'

'बच्चे से हमें क्या लेना ? उससे मेरा रिश्ता क्या ? वह मुझे नहीं चाहता तो न सही—रहे वह उनके पास जो उसे अच्छे लगते हैं।'

'तुम्हारा दिल नहीं घबरायेगा ?'

'यह कोई सवाल नहीं। तुम्हारा दिल घबराता है हमारे लिये ?'

'मेरा दिल ? हाय सखि, कैसे समझाऊँ तुम्हें अपने दिल का हाल ! जो टीसें उठती हैं, मानो खून रीसता है अन्दर ही अन्दर, उसे तुम्हें कैसे दिखाऊँ ?'

'बस करो जी, तुम्हारे अन्दर ही अन्दर का हाल सुन कर मेरा क्या बनेगा ? कभी-कभार आँख खोल कर बाहर का हाल जानने-समझने की कोशिश करो तो मेहरबानी मानूँ। बहरहाल, तुम अगर हमें छोड़ कर रह सकते हो तो मैं भी मुन्ना को छोड़ कर रह लूँगी।'

'मेरा तुम्हें यहाँ छोड़ जाना मजबूरी है।'

'गलत बात। तुम्हारी यह मजबूरी अपनी बनाई हुई है। अपनी पत्नी और बच्चे को अपने साथ रखने की पुरुष की जो स्वाभाविक इच्छा है उसे तुम व्यक्त करने से संकुचित होते हो। तुम्हे डर है कि लोग तुम्हारी इस इच्छा को जान कर तुम पर लानत-मलामत डालेंगे। मैंने इस बात को जान कर ही तो कहा था कि ठीक है, किसी को पीछे न छोड़ो, ले चलो सबको अपने साथ।'

सन्तोष ने और अधिक उदास होकर कहा, 'यह हो पाता तो समस्या हो क्या थी ? मगर माँ-बाबू तो यहाँ से जाने को कभी भी राजी नहीं होंगे।'

'कोई बात नहीं। जो नहीं जावे न जायें। तुम्हारी इसमें कौन सी गलती ? मुन्ने को बाँध कर ले जाना चाहो तो भी मुझे एतराज नहीं, क्योंकि हंगामा वह मचायेगा ही। अगर सख्ती नहीं करना चाहते तो उसे यहीं छोड़ो। मैं उसे छोड़ कर रह लूँगी। चलो, तुम-हम कल चले चलें। रही बात दिल घबराने की, उदास होने की, तो क्या मुझे उस चीज को बर्दाश्त करने की आदत नहीं ?'

'वह तो तुम्हारी अपनी बात है। उसके लिये लोग बुरा-भला तो नहीं कह सकते। मगर उसे यहाँ छोड़ जाने से जो चक्-चक् शुरू होगी, उससे जान कैसे छुड़ाओगी ?'

सुनते ही शकुन्तला ज्वालामुखी-सी फट पड़ी, 'बुरा-भला ? चक्-चक् ? मेरे ही हर काम की मीन-मेख निकालेंगे लोग ? और यह जो तुम्हारे माँ-बाप, अपने सुख-स्वार्थ की कमी न हो जाये, इस कारण अपने एकलौते बेटे को अकेला छोड़ यहाँ रह रहे हैं, वह बुराई के लायक बात नहीं ? और यह जो तुम माँ-बाप का लिहाज कर और बुराई के डर से सिकुड़-सिमट कर अपनी बीबी-बेटे को यहाँ रख कलकत्ते रहते हो, इसमें कोई बुराई नहीं, बुराई सिर्फ मेरे किये की ही होगी ? क्यों ? ऐसा क्यों ?'

सन्तोष ने कोमल होकर जवाब दिया, 'बात ऐसी नहीं। मुझे अपनी बुराई होने की चिन्ता नहीं। चिन्ता है तुम्हारी। लोग तुम्हें बुरा कहें, इसे मैं सह नहीं पाता।'

'मुझे इस निन्दा-अपमान की परवाह नहीं। जो हमारी उचित माँग है, उनकी ति करने की स्वाभाविक इच्छा की अगर बुराई होती है तो हुआ करे। जो ऐसा कहते हैं कहें, उनकी बातों पर ध्यान देना अक्लमन्दों का काम नहीं। मेरी राय में, कहने वालों को, मेरी नहीं, तुम्हारे माँ-बाप की बुराई करनी चाहिये, जिन्होंने अपने राई भर स्वार्थ के लिये मेरे सोलह आने स्वार्थ का गला घोंट दिया है।'

'यह कौन समझे? कौन समझाये? तुम्हीं बताओ कुन्तला?'

'किसी की जरूरत नहीं, मैं ही सबको समझा दूँगी। बातों से नहीं अपने कामों से समझा दूँगी। यह लोगों ने कैसे समझ लिया कि मैं जीवन भर पति को छोड़, यहाँ रही रहूँगी? यह अब नहीं हो सकता। जो होना होगा, होगा मगर कल मैं जाऊँगी जरूर। और तुमसे भी कहे देती हूँ जी, कल अगर तुम मुझे अपने साथ लेकर नहीं गये, तो अगली बार आकर तुम मुझे यहाँ देख नहीं पाओगे, यही मेरा निर्णय है।'

सन्तोष का दिल काँप उठता है। सोचता है कि शकुन्तला जितनी संवेदनशील है उतनी ही जिद्दी। पता नहीं सन्तुलन खोकर क्या कर बैठे वह। लेकिन वह भी बेचारा करे तो क्या? बिल्लू भी ऐसा विचित्र है!

परिवेश को हल्का करने का एक और प्रयास कर सन्तोष उठते हुये कहता है, 'बेकार की बातें मत सोचो। बल्कि गुस्सा थूक कर पुत्र-वशीकरण की साधना में लग पड़ो। मैं तब तक एक चक्कर लगा कर आता हूँ।'

'नहीं! नहीं!! नहीं!!! मैं कुछ नहीं करूँगी। या तो मैं कल जाऊँगी, नहीं तो कभी नहीं जाऊँगी। सुन लो कान खोल कर, यही मेरा अन्तिम निर्णय है।'

'कहती तो हो कुन्तला, पर यह भी सोचा तुमने कि माँ के आगे तुम्हारा सुझाया प्रस्ताव रखूँगा कैसे?'

'तुमसे नहीं होता तो न सही। जो कहना होगा मैं ही कहूँगी। मुझे इस बात को कहते जरा भी हिचक नहीं होगी।'

'एक बात खूब अच्छी तरह सोच लेना कुन्तला। बढ़ाया कदम पीछे नहीं हट सकता। सोच लेना पहले कि एक नादान बालक पर नाराज होकर तुम्हारा यह करना कहाँ तक उचित होगा।'

'बच्चे पर या किसी पर नाराजगी की बात नहीं। यह मेरा स्थिर संकल्प है। हम बार-बार इस आयु के न हो सकेंगे। जीवन बहुमूल्य है। उसे मैं यहाँ इस प्रकार नष्ट नहीं कर सकती। देखते-देखते पाँच साल बीत गये, इस अन्धे कुँयें में। मुझे जीना है, जीवन का उपभोग करना है। रही लड़के की बात। तो उसका मैं क्या करूँ? तुम्हारी माँ की देख-रेख में वह जब तक रहेगा तब तक वह मेरी एक न सुनेगा, वश में आने की तो खैर बात ही नहीं।'

सन्तोष ने सावधान किया, 'धीरे बोलो कुन्तला। माँ, शायद ठाकुरद्वारे से लौट आईं। बाबू भी आते ही होंगे।'

जवाब न देकर शकुन्तला उठी। लालटेन की बत्ती बढ़ा कर वह अपने सूटकेस

के सामने बैठ सामान उलटने लगी। बिल्टू के सारे कपड़े उसने ले जाने के लिये उसमें रखे थे। एक-एक कर सारे निकाले। उन नन्हें-नन्हें कपड़ों को निकालते समय आंसुओं से सामने अन्धेरा छाने लगा। सन्तोष देख न पाये, इसलिये सूटकेस के अन्दर सिर डाल सामान निकालने लगी वह।

सन्तोष उठा। थोड़ी देर इधर-उधर घूम कर लौटा।

'माँ आ गई हैं।'

'जा रही हूँ, उन्हें बिल्टू का सारा सामान समझा देने।'

'एक बार सोच लो कुन्तला, रह सकोगी उससे दूर?'

मुख उठा सन्तोष की ओर सीधे देखती शकुन्तला ने स्पष्ट स्वर से पूछा, 'अगर तुमसे कोई कहता कि या तो पत्नी को छोड़ो नही तो बेटे को, तुम किसे छोड़ते?'

'यह भी कोई पूछने की बात है? मैं –'

'बहकाओ मत। साफ जवाब दो?'

'कैसे दूँ साफ जवाब, ऐसी समस्या का सामना तो मैंने कभी किया नही।'

'हुई न वही बहकाने वाली बात? मैं यह सब तीन-पांच वाली बातों को समझती नही। मेरा जवाब सीधा सपाट है। मेरी राय में, नारी की भावना में, पति और पुत्र दोनों ही समान प्रिय हैं, फिर भी अगर कभी किसी के जीवन मे ऐसी समस्या आये तो वह जरूर ही पति को प्राथमिकता देगी। और जो ऐसा नही करेगी—या तो वह दुनिया को धोखा दे रही है, नही तो अपने को।'

अपराधी दोनो सिर झुकाये गाड़ी में जा बैठे।

बब्बा निशिकान्त बिल्टू को लेकर बाजार चले गये हैं। कहा नहीं जा सकता। बालक ही तो है, मां-बाप को गाड़ी में बैठते देख अगर मचल जाये?

गाड़ी चल दी। ननीबाला की सहेलियाँ जो अपना काम-धाम छोड़ शकुन्तला की 'पतिगृह-यात्रा' प्रत्यक्ष करने आई थीं, उसकी आलोचना में लगी। उल्लास से भरी-पूरी ननीबाला स्तब्ध होने की भूमिका निभाती मूक बनी बैठी रही।

गाँव के उस मकान की आलोचना-मुखरित चौक पर पर्दा डाल कहानी कलकत्तागामी उस रेलगाड़ी के साथ हो लेती है।

'बुलाओ न जी, उस चाय वाले को! रेल स्टेशन मे मिलने वाली कुल्हड़ की चाय मैंने कभी नही पी है।'

'धन्यभाग मानो कि पीनी नही पड़ा तुम्हें। जब तक न पिओ तभी तक अच्छा है तुम्हारे लिये।'

'क्यों, ऐसा क्यों भला ?'

'इसलिये कि जब तक नहीं पीती हो, एक कड़ुवे अनुभव से बची रहती हो।'

'यह जीवन है ही कड़वे अनुभवों को बटोरने का एक लम्बा सिलसिला.... उससे क्या डरना ? यह उसी सिलसिले की एक और कड़ी होगी, इससे ज्यादा तो कुछ नही।'

'पीना ही है ?'

'हाँ, बिल्कुल।'

बेटे के लिये उसका मन जरा भी उचाट नहीं, इसी बात को साबित करने के लिये शकुन्तला स्टेशन में चाय पीने के लिये मचल रही है, मचल रही है मुरमुरा खाने के लिये। माँग पेश कर रही है ठेलेवाले से किताब खरीदने की।

उसके इस अति उल्लसित आचरण से बेचारा सन्तोष ताल-मेल नहीं बैठा पाता।

उसने एक लम्बी गहरी साँस लेते हुये कहा, 'अगर मेरे दफ्तर की हाजरी साढ़े आठ की न हो दस बजे की होती तो मैं बड़े आराम से रोज घर से ही दफ्तर आ जा सकता।

'फिर वही बात ? मना किया था न मैंने। हर्गिज-हर्गिज मैं डेली पैसेंजर की बीवी नही बनूँगी। कभी नही, किसी हालत में नही।'

दो

'यहाँ मैं बाग लगाऊँगी। सुन्दर-सुन्दर फूल खिलेंगे।' नये मकान में पाँव रखते ही उच्छ्वास से भर बोल उठी थी शकुन्तला।

किचन के पीछे जो दस-बारह हाथ खुली जगह है, उसी को देख कर उसका यह उच्छ्वास मुखर हुआ था। गाँव के मकान का उतना लम्बा-चौड़ा कच्चा आँगन, उसे देख उसके मन में यह बात कभी नहीं आई थी। अरे नहीं, वहाँ बाग-बगीचा कैसा? वहाँ तो ननीबाला के हाथ का गोबर-जल ही अच्छा लगता, फूलों की क्या जरूरत?

शहर के मकान की यह खुली जगह भी कोई खास सुन्दर नहीं। मनोहरण के लिये था उसमें एक नीबू का पेड़, जिस पर पत्तियाँ भी थीं और काँटे भी, पर नीबू कभी नहीं लगते थे। था एक मिर्च का पौधा जिसकी डाली-डंगाली बढ़ी हुई रस्सी जैसी थी। उसमें यदा-कदा एकाध मिर्च लगते थे। और थे मरियल-मरियल साग के पौधे —जिनमें डण्ठल अधिक, पत्तियाँ कम। यही है अब शकुन्तला का बगीचा।

उस दस-बारह हाथ जमीन को साफ कर उसमें उसने किनारे-किनारे क्रोटन के गमले लगाये हैं, बीच में बेला और मल्लिका के पौधे। एक किनारे स्वर्ण-चम्पा की एक डाल भी लाकर लगायी है—इस उम्मीद में कि स्वर्ण-चम्पा जल्दी लगती है, साल बीतने के पहले फूल भी आ जाते हैं। आजकल उसे हर वक्त यही चिन्ता लगी रहती है कि डालिया कब लगाये, जूही और चमेली में कितने दिनों में फूल आयेंगे। चिन्ता ही नहीं, इन्हीं विषयों पर आये दिन तर्क-वितर्क भी होते रहते हैं।

पराशर कहता है, 'अपने इस दस मील के आयतन के बगीचे में इतने पौधे लगायेंगी तो सारे पेड़-पौधे मर जायेंगे।' शकुन्तला मानती नहीं। लगातार बहस करती। बे-सिरपैर की बहस।

मगर यह पराशर है कौन? कहाँ से आ गया?

सन्तोष और शकुन्तला के एकान्त बसेरे में वह क्यों?

शकुन्तला ने भी भौंहें सिकोड़ कर पूछा था, 'वह क्यों?'

तब सन्तोष ने 'मानवता' पर एक छोटा पर सारगर्भित व्याख्यान ही दे डाला था। शकुन्तला को उसने इस बात का विश्वास करा ही डाला था कि इस युग में जीवित रहने का एक ही पथ है, वह है वर्ण-जाति-निर्विशेष एक मानव की दूसरे से

मैत्री। व्याख्यान में काव्य-साहित्य के कई उदाहरण भी दे डाले थे।

ध्यान से पति की सारी बातें सुनती रही शकुन्तला। फिर बोली, 'समझ तो गई सारी बातें, सीखा भी बहुत कुछ, पर""?'

'अब इसमें 'पर' की क्या गुंजायश है?'

'सोच रही हूँ कि काव्य-साहित्य-दर्शन हर जगह ही तो यही लिखा है कि मानव को अपने लिये ही नहीं, औरों के लिये जीना है। इसके बावजूद भी सभी लोग अपनी ही समस्याओं को सुलझाने में जुटे हैं। तो फिर हम ही ऐसे निराले क्यों हो गये कि जाकर दूसरों की समस्याओं में उलझ जायें?'

सन्तोष ने सिर पीट लिया' 'हाय, हाय! इतनी सारी कीमती बातें बताने के बाद यही समझ में आई तुम्हारे? मेरा सारा व्याख्यान चौपट हो गया।'

शकुन्तला ने हँस कर कहा, 'अरे नहीं, चौपट क्यों होने लगा? आज बीज बोया गया, वक्त आने पर अंकुरित होगा, मौसम आने पर फलेगा-फूलेगा। मतलब यह कि जब मुझे किसी को उपदेश देना पड़ेगा तब यह बातें काम आयेंगी। उपदेश लेने की वस्तु तो है नहीं, न मानने की। यह तो महज देने के लिये है।'

'कुन्तला, तुम्हें उस बेचारे की हालत पर तरस नहीं आती? देख नहीं रही हो कितनी परेशानी में है?'

'देख रही हूँ। सुन-समझ भी रही हूँ। सुनते-सुनते तुम्हारे दोस्त की बेहाली का हाल मुझे जबानी याद हो गया है। बताऊँ, सुनोगे? बेचारे के भाई-भाभी का तबादला""मेरा मतलब भाई का तबादला हुआ और भाभी उनके साथ गईं। जाने से पहले भाई अपने मौसेरे साले को सपरिवार अपने मकान में बसा गये हैं, क्योंकि घर खाली छोड़ना खतरे से खाली नहीं। इधर मौसेरे साले साहब, पूर्व पाकिस्तान में बसने वाले अपने श्वसुर-कुल के सदस्यों की नित नई आमदनी कर मकान की जनसंख्या क्रमशः बढ़ा रहे हैं। उनकी बढ़ती जनसंख्या के कारण तुम्हारे बेचारे दोस्त अपने छत वाले कमरे से विस्थापित होकर मेस में जा ठहरे थे। अब वहाँ से भी उनका पत्ता कटा है, क्योंकि मेस मैनेजर का कहना है कि पूरा कमरा नहीं मिलेगा, रूम-मेट रखना ही पड़ेगा। इस निर्दोष प्रस्ताव को तुम्हारे मित्र स्वीकार नहीं कर पा रहे हैं। उनका कहना है कि शादी इसलिये नहीं की कि करने पर रूम-मेट की उपस्थिति सहन करनी पड़ेगी। और *अब एक लोदियल-मुछन्दर-क्लर्क को रूम-मेट बना कर जीवन-यापन करना* पड़ेगा! नहीं, कदापि नहीं। इसके अलावा मेस का भोजन उनको माफिक नहीं आ रहा। पेट में दर्द हो रहा है। मेस के परिवेश में उनके हाथ की कलम भी बेकार हुई जा रही है""देखो, सारे पाइण्टस् ठीक हैं न?'

सन्तोष ने उसकी पीठ ठोंकते हुये कहा, 'वाह-वाह, क्या याददाश्त पाई है यार तुमने! लेकिन मजाक छोड़ो। सच बोलो, क्या वह वाकई परेशान नहीं? सोचो, कितनी मुसीबत में है बेचारा। लेखन उसकी आजीविका ही नहीं, उसका जीवन है।

अगर उस लेखन-कार्य मे इतनी बाधायें आयें तो उसके लिये स्थिति कितनी पीड़ादायक है ?'

'ठीक, है पीड़ादायक। लेकिन कैसा आदमी है यह दोस्त तुम्हारा कि भाई के मौसेरे साले की ससुराल वालों के आने पर कायरों की तरह अपना घर-द्वार छोड़ कर भाग आया ? क्या उसे यह नहीं चाहिये था कि उन्हें उखाड़ कर खुद जम कर बैठता ?'

'अगर यही कहती हो तो कुन्तला, यह भी सच है कि दूसरे को उखाड़ कर खुद जम कर बैठने की प्रवृत्ति पुरुष की कभी नही होती।'

'मतलब यह कि औरतों की होती है ?'

'नही, नही। मेरे कहने का यह मतलब नही, लेकिन....।'

'लेकिन क्या, यह मुझे बताने की जरूरत नहीं। लेकिन तुम्ही सोचो, हमारे इस दो जनों की गृहस्थी में एक बाहरी आदमी का समावेश कितना अप्रिय लगता है !'

'गृहस्थी मे उसका समावेश कैसे हो रहा है ? खायेगा वही वह हमारे साथ। रहेगा और रात को सोयेगा। बस।'

'अरे, यही तो गड़बड़ है। उसका रहना और सोना। रहने के बदले अगर तुम्हारे दोस्त चार वक्त खाते तो मुझे इतना बुरा न लगता।'

सन्तोष ने मजाक किया, 'तुम्हें किस बात की परेशानी है ? तुम्हारे कमरे मे तो वह सोयेगा नही। न ही उसने ऐसी इच्छा प्रकट की है। वह तो महज बाहर वाला कमरा माँग रहा है।'

'इसी वजह से तो मुझे उसका रहना इतना अखर रहा है। जिस घर का मालिक इतना बदतमीज है, उस घर के बाहर वाले कैसे होंगे, यह तो भगवान् ही जानें।'

'मालकिन की सौम्यता-सभ्यता से सन्तुलन बना रहेगा।'

'बेकार की बकवास मत करो।'

'अच्छा, वचन देता हूँ, पराशर के आने पर मैं भी बिल्कुल सभ्य-सौम्य हो जाऊँगा।'

'नही भाई, यह भी मुझे रास नही आता।'

'तो फिर क्या हुक्म है इस नाचीज के लिए ?'

'कुछ नहीं। एकदम कर्तव्यविमूढ रहो।'

बातें—बातें—और बातें। सुनहले जरी और रेशम के झिलमिलाते जाल की तरह जरी पर जरी, रेशम पर रेशम की बातों का सिलसिला चला, शब्दों का जाल बुनना। लगता है, इस खेल का आकर्षण ताश-चौपड़ से भी ज्यादा है। इसी

खेल में रात-दिन डूबे हैं, पांच साल पुरानी शादी वाला यह नया जोड़ा। बिल्टू ? अब तो लग रहा है कि धीरे-धीरे उसकी याद भी धूमिल हो चली है। शुरू-शुरू में एक दूसरे की पीड़ा का ख्याल कर सावधानी से बिल्टू का प्रसंग उठाते ही नही थे। अब प्रयास कर उससे कतराने की जरूरत नही होती, नये जीवन के नये प्रसंगों के बीच वह कही दूर हट गया है। सन्तोष और शकुन्तला तो जैसे प्रथम मिलन की मादकता में डूब-उतरा रहे हों।

यह शकुन्तला क्या वही शकुन्तला है ?

वही जिसे नीद खुलते ही अनन्त-शयन का चित्र देखना पड़ता। किवाड़ खोल बाहर आते ही आँगन में गोबर-जल छिड़कती, झाड़ू लगाती सास के दर्शन होते। चौके के एक कोने में बैठ गिलास से चाय पीना पड़ता। जो अगर कभी घर पर कलफ लगी, प्रेस की हुई साड़ी पहनती तो सास की आँखों से चिनगारियाँ छूटती। शुरू-शुरू में उसे खुद ही यकीन न आता था। सपना तो नही देख रही वह ? यह सुबह-शाम साड़ी पलटना, नित नई केश-सज्जा करना ! सास अगर घर पर चप्पल पहने-ढीली चोटी लटकाये इस शकुन्तला को देख पातीं, तो क्या होता उनका ? अवश्य ही बेहोशी का दौरा पड़ता।

बिल्टू ?

उसे शकुन्तला अपने पास कितनी देर रख पाती ? नही, बिल्टू के लिये उसका मन जरा भी उदास नही होता। सिर्फ जब कहीं सैर-सपाटे को जाती तो रास्ते में पार्क में खेलते सजे-धजे बच्चे और, खैर छोड़ो इस पचड़े को। शकुन्तला जानती है, अपने मन को बांधना, उसकी दुर्बलता को दुरकारना।

प्रेम के नशे में डूबी होती हैं रातें, काम के नशे से भरपूर होते हैं दिन, शामें बीतती हैं नयी साज-सज्जा और प्रतीक्षा के नशे में। मादकता के इस दौर में फुर्सत कहाँ कि अपने मन को टटोले, देखे बिल्टू के लिये वह उदास है कि नही, बिल्टू की याद आती है कि नहीं। और फिर इधर तो उसका सितार-वादन भी शुरू हो गया है न। वही सितार, जो गाँव में खाट के नीचे पड़ा धूल बटोर रहा था। सितार के तारों को नये सिरे से कस कर उसने फिर से रियाज चालू किया है।

हाँ, तो यही है शकुन्तला के जीवन का आदर्श। सितार के तारों को फिर से कसो कि नई-नई तानें उभरें उसमें।

सन्तोष के मन मे एक नन्ही सी आशा थी। हो सकता है कभी माँ-बाबू कलकत्ते आयें। इसलिये उसने शहर के बीच मे 'तुम्हारा मैं और मेरी तुम' वाला छोटा-सा फ्लेट न ले शहर के उपकण्ठ मे खुली जगह पर एक पूरा मकान ही ले लिया था। तीन बड़े कमरे। सामने चौड़ा बरामदा। किचन और उसके पीछे वह प्रसिद्ध बगीचा।

फिलहाल यही है शकुन्तला का अपना घर।

यहाँ की गृहस्थी शकुन्तला की अपनी गृहस्थी है। हर क्षण ही चल रहा है

नये-नये ढंगों से घर की सजावट करने का कभी न खत्म होने वाला खेल। तो फिर उसे काम से फुर्सत कहाँ ?

एक उनका शयनकक्ष, एक खाने और भण्डार का सामान रखने के लिये कमरा। बाहर की तरफ सड़क की ओर खुलने वाला कमरा सबसे बड़ा है। रोशनी और हवा भी उसमें सबसे ज्यादा आती है। उस कमरे की सुन्दरता बढ़ाने की चेष्टा में नित नये सामान मँगा रही है शकुन्तला। एक आया भी रखी है—सारा काम वही करती है, सिर्फ खाना बनाने का काम रखा है अपने लिये शकुन्तला ने। दो आदमियों की छोटी-सी गृहस्थी—खाना बनता भी कितना है ?

बहरहाल शकुन्तला ने गृहस्थी को बड़े ही सुन्दर ढंग से सजा लिया है। मानो कोई छोटी-सी कविता हो। इतनी बारीक है उसकी कारीगरी कि उस कविता की किसी भी पंक्ति में एक भी फालतू शब्द के लिये जगह नहीं।

इसी स्थिति मे परिपूर्ण छन्दोपतन के रूप में आया सन्तोष का लाया हुआ पराशर के रहने का प्रस्ताव। सुनते ही जल-भुन गई शकुन्तला। सुना है कभी किसी से ऐसी विचित्र बात ? भला बताओ। सन्तोष पीड़ा से व्याकुल, क्योंकि उसका दोस्त साहित्य-सृजन करने योग्य अनुकूल परिवेश नहीं जुटा पा रहा है। अत. शकुन्तला के इस निकुंज मे उसका पदार्पण होगा। इतने शौक और मेहनत से गढ़ी कविता मे गद्य का प्रवेश करवाना होगा। अरसिक और कहते किसे हैं ?

सन्तोष चाहे जो कहे, यह शकुन्तला अच्छी तरह जानती है कि यहाँ रहने का प्रस्ताव पराशर का नहीं है। वह अच्छी तरह जानती है, यह सुझाव सन्तोष के दिमाग से निकला है। मित्र-प्रेम से विगलित हो उसी ने बार-बार अनुरोध-उपरोध करके उसे राजी किया है।

सन्तोष ने कहा था कि पराशर रहेगा यहाँ, खायेगा कहीं और। रात को साहित्य-साधना करता है वह।

शकुन्तला ने जार-जार होकर उसे यह समझाने की कोशिश की कि यह इन्त-जाम लम्बी अवधि के लिये संभव नहीं। एकाध दिन की बात और है। सन्तोष ने मगर उसकी बात को हर बार हँस कर उड़ा दिया है। उसने कहा, 'तुम भी यार, समझती नहीं ! मर्द क्या नहीं कर सकता ? जानती भी हो कि इस दुनिया में कितने लोग हैं ? कितने अद्भुत हैं उनके जीने के ढंग ? कैसी-कैसी परिस्थितियों में लोग जीवन-यापन करते हैं ? उसे तो बस थोड़ा एकान्त चाहिये, शान्ति से लिखने के लिये। क्या खाया, कहाँ खाया, इससे कुछ बनता-बिगड़ता नहीं।'

शकुन्तला फट पड़ी, 'तो फिर उस दिन क्यों कह रहे थे कि मेस का भोजन माफिक नहीं आ रहा है, पेट में दर्द रहने लगा है तुम्हारे दोस्त के ? मेस का खाना रास नहीं आता और होटल का खाना आयेगा ?'

'क्या करूँ, बोलो।' सन्तोष दुःखी हो उठता, 'मैंने तो उससे बहुत बार कहा, वह राजी होता ही नहीं। कहता है.....'

'क्या कहते हैं तुम्हारे दोस्त ? रुक क्यों गये ?'

'क्या कहूँ ? कहूँगा तो तुम नाराज होगी ?'

'अब तक जो कुछ तुमने कहा है उसमें मुझे कौन-सी खुशी हासिल हुई है ? बताओ जल्दी, क्या कहा है तुम्हारे दोस्त ने ?'

'बताऊँ ? उसने कहा है, इसके ऊपर अगर मैं तेरे खाने में भी हिस्सा लगाऊँ तो फिर इतनी गालियाँ, इतने श्राप मेरे सिर पर पड़ेंगे कि मेस के दिये कालिक पेन के बदले गैस्ट्रिक अल्सर हो जायेगा मुझे।'

शकुन्तला नाराज होती है। आहत नागिन-सा फन फैलाता उसका क्रोध। बिगड़ कर कहती है, 'और इसके बाद भी तुम उस शख्स को प्यार-मनुहार से अपने घर बुला कर रहने की जगह दे रहे हो ?'

'अरे, तो क्या सच ही उसका ऐसा ख्याल है ? वह तो महज मजाक कर रहा था।'

'हाँ, क्यों नहीं ! इतनी बुद्धि मुझमें है कि कौन-सा मजाक है कौन-सा नहीं, उसे समझ लूँ। लेकिन उनकी बात से एक बात स्पष्ट हो गयी। हम औरतों के प्रति उनकी भावनायें कैसी हैं वह इसी से जाहिर हो गया।'

'नहीं समझा तुम्हारी बात। मेरी बोध-शक्ति तुम्हारी तरह तीव्र-तीक्ष्ण नहीं है। न ही हम तुम महिलाओं की तरह जलेबी की आड़ से दुनिया को देखते हैं।'

'तो यह बात है ! तुम्हारे मन में भी स्त्री-जाति के लिये ऐसी ही अश्रद्धा है। चलो, पता चल गया, अच्छा हुआ।'

नाराज शकुन्तला ने सन्तोष की ओर पीठ फेर ली। सन्तोष बोला नहीं, उठ कर शकुन्तला के सामने जा बैठा। कहने लगा,—'एक बात भूल रही हो कुन्तला। यह तो अवश्य ही मानोगी कि श्रद्धा के बाद आने वाला कदम है प्रेम। तो क्या तुम यह चाहोगी कि मैं देश भर की सारी औरतों के प्रति प्रथम श्रद्धालु और फिर...'

'बस जी, बस। बहुत हो गया, अब बकवास बन्द करो। इसीलिये तो कहती हूँ कि तुम महाजाहिल हो। लेकिन आज एक बात और पता चली। जाहिल तो हो ही, साथ ही झूठे भी।'

'हाय, हाय ! यह भी जान गई ? पर कैसे जान गई, यह तो बताओ ?'

'क्यों, तुम्हारी बातों से ही, और कैसे ? अभी कल तक तुम यही रोना रो रहे थे कि पराशर कहता है उसे यह कष्ट है, वह कष्ट है। रहने की तकलीफ, लिखने की तकलीफ और न जाने क्या क्या। यह सब झूठ है, है कि नहीं, बोलो।'

'झूठ बात ?'

'नहीं तो क्या ? पराशर जी ने कुछ भी नहीं कहा। तुम ही जाकर उनसे बोले हो, हाय मेरे भाई, तुझे यहाँ कितनी तकलीफ है, कैसे यहाँ रहेगा, कैसे लिखेगा, इससे अच्छा, चल मेरे भाई, मेरे घर पर रह, मेरे मकान में तमाम जगह है, तुझे कोई तकलीफ नहीं होगी, मेरे भाई....'

शकुन्तला की इस तरह की चिढ़ाने की कोशिश से पहले तो सन्तोष हँसा फिर चिन्तित होकर बोला, 'मेरी प्रकृति की सारी गहराइयों को जान गई तुम ? अब क्या होगा भला ?'

'जान गई से क्या मतलब ? मैं तुम्हें बहुत पहले ही जान चुकी थी। मुश्किल भी क्या है इसमें ? यह हम तो नहीं कि रहस्य पर रहस्य कभी खत्म ही न हो।'

बहस-मुवाहिसा चलता रहा और इसी के दरमियान यह तय हो गया कि परा-दार आयेगा, रहेगा।

पति का इतना आग्रह देख शकुन्तला बेमन से राजी तो हुई थी, पर अन्तिम दिन तक उसने सन्तोष को सावधान किया था, 'देखो जी, जो भी कहो, मुझे यह जरा भी अच्छा नही लग रहा है। रात को, आराम के समय, बगल के कमरे मे एक बाहरी आदमी ! भला यह भी कोई तरीका है ? जोर से हँसने या एकाध लाइन गाने की इच्छा होगी, तो अपने को रोकना पड़ेगा, कही वे सुनें न, उनकी साहित्य-साधना मे व्यवधान न आये।'

'पागल हुई हो ? बरामदे के इस पार हम, उस पार वह। इतना बड़ा बरामदा पार करती तुम्हारी आवाज वहाँ पहुँचेगी ? कभी भी नही।'

'पहुँचेगी कैसे नही ? ख्याल किया तुमने, रात को सारा मुहल्ला कैसा सन्नाटा हो जाता है ? सब सुनाई पड़ेगा।'

सन्तोष ने संजीदा होकर कहा, 'देखो कुन्तल, एक बात और भी है। उसके यहाँ रहने से कौन सी असुविधायें होंगी, यही देख रही हो। यह क्यों नही समझती कि उसके यहाँ रहने से हमें एक बहुत बड़ा लाभ भी होगा। रात का यह सन्नाटा और झींगुरो के कलरव रात को हँसने या गाने के लिये बहुत बढ़िया परिवेश बनाते हैं, इसमें शक नही, पर, इत्तफाक से अगर कभी रोने का मौका आये तब क्या होगा ?'

'यह कैसे अपशब्द निकालते हो, जी ?' शकुन्तला चिढ़ कर बोली, 'रोने क्यों लगी मैं भला ?'

'कौन कह सकता है, किस पर क्या बीतेगी ? क्या इस दुनिया में रोने लायक बातों की कमी है ? इसी दुनिया में जहाँ सुन्दर का निवास है, असुन्दर का निवास भी तो उसी में है। है न ? अब मान लो, किसी दिन, रात को जब सारे मोहल्ले पर सन्नाटा छाया है, उस वक्त चहारदिवारी फांद कर डाकुओ का एक झुण्ड आ जाये। क्या उस वक्त तुम्हारा हँसने का मन होगा ? उस वक्त एक और व्यक्ति का घर पर होना हमें साहस और ताकत दोनों जुटायेगा। बोलो है कि नहीं मेरी बात सही ?'

सन्तोष की बात पूरी होते ही शकुन्तला ने सहम कर खिड़की के बाहर देखा। बात तो सच ही है। साँझ गहराते न गहराते मुहल्ला गहरी नींद में डूबा-सा लगता है। न किसी मकान से रोशनी दिखाई पड़ रही है, न सुनने मे आ रही है कोई आहट। ऐसी कोई ज्यादा रात भी नहीं, हद से हद दस बजे होंगे। ताज्जुब है, आज से पहले इस ओर कभी ध्यान ही नही गया था। दिन के वक्त कितनी चहल-पहल

रहती है। गली से, घरों से कितनी ही आवाजें आकर अपनी उपस्थिति का भान कराती हैं। धूप और रोशनी से सारा इलाका झिलमिलाता रहता है। छतों, बरामदों से कितने-कितने कपड़े सूखने को फैलाये होते हैं। अगल-बगल के मकानों की महिलायें अपने-अपने बरामदों से एक दूसरे से बातें करती दिखाई पड़ती हैं। पुरुष-वर्ग बाजार से सौदा-सुलुफ लाते या दफ्तर आते-जाते दिखाई पड़ते रहते हैं। छोटे बच्चे सड़क पर खेलते, कोलाहल करते रहते हैं। इस सड़क पर न बसें चलती हैं, न गाड़ियाँ ज्यादा हैं, इसलिये बच्चे बड़े मजे से सड़क पर खेलते रहते हैं। उसके अपने घर में उसकी दाई चन्दना के कामों की झनझनाहट और आवाज की खनखनाहट—उसे घर ही में शब्द-ब्रह्म का बोध होता रहता है। दिन के समय यहाँ इतना शोर, इतने सारे बदलते दृश्य, कि लगता ही नहो कि यह नगर नहीं नगर का उपकण्ठ है।

लेकिन दिन डूबने पर? शाम के बाद?

सन्तोष दिन डूबने के साथ ही आ जाता है, उसके बाद तो पता ही नहीं चलता कि वक्त किधर से गुजर गया। पर आज उसकी बातों ने शकुन्तला के मन में डर के बीज बो दिये हैं। इस वक्त वह जिस तरह सहम-सहम कर इधर-उधर देख रही है, अब वह रात को एकाकी इस बरामदे के इस पार-उस पार अकेली आया-जाया करेगी ऐसी उम्मीद नहो।

शकुन्तला की आँखों में समाये डर की छाया को देख हँसने लगा सन्तोष। बोला, 'घबराओ नहो, अभी दीवार फांद कर कोई आया नहो। लेकिन तुम्हीं बताओ, इस जगह एक तीसरे व्यक्ति का होना लाभदायक है कि नहो?'

'बड़े वो हो जी तुम!' शकुन्तला ने भी हँस कर कहा, 'छल से हो चाहे कौशल से, अपना काम पूरा करवा हो लोगे तुम। यह भी मानना पड़ेगा मुझे कि यहाँ का सन्नाटा और हो सकने वाली मुसीबतों की बात सोच कर ही तुमने दोस्त को यहाँ रहने के लिये बुलाया है। धन्य हो तुम और तुम्हारी सूझ-बूझ।'

'पहले तो नहो सोचा था, मगर अब सोच रहा हूँ। और यकीन मानो, जितना सोच रहा हूँ, अपनी अक्ल को उतना ही दाद दे रहा हूँ।'

'आज की रात ही हमारी-तुम्हारी इस घर में अकेले रहने की अन्तिम रात है न?'

शकुन्तला के सिर पर हल्की-सी चपत जमाते हुये सन्तोष ने कहा, 'बाकी रात इसी बात को सोचती रहने का इरादा है क्या? सोओगी नहो?'

'पता नहो क्यों, मेरा मन नहो मान रहा है।'

'ताज्जुब है! इसमें इतना दुःखी होने को क्या है? सच कह रहा हूँ, मुझे अच्छा लग रहा है। खुशी हो रही है यह सोच कर कि कल से पराशर यहाँ होगा। यह तो कोई साधारण व्यक्ति नहो, मनुष्य कहलाने योग्य व्यक्ति है। वह साहित्यकार

है, कितना नामी, कितना प्रतिष्ठित ! अगर मुझे पहले मालूम होता कि तुम्हें इतना बुरा लगेगा, तो मैं उससे न कहता यहाँ रहने को। क्या करूँ ? कोई बहाना बना कर मना कर दूँ ?'

शकुन्तला बोल पड़ी, 'अरे, नहीं-नहीं। यह मेरा मतलब नहीं था। जब से आई, हम ही दोनो थे न, इसलिये मन कैसा उचाट हो गया था, यह सोच कर कि हमारा एकान्त खतम हुआ। तुमने जो किया, ठीक ही किया। यही ठीक हुआ। अच्छा हुआ।'

अत: पराशर का इस घर मे आगमन और स्थिति।

कितने महीने बीते ? चार ? पाँच ? छह ? ठीक याद नहीं आता। हिसाब लगाये बिना बताया भी नहीं जा सकता। याद तो नहीं कि कितने दिन बीते, पर जिस दिन वह आया था उस दिन की बात शकुन्तला को खूब अच्छी तरह याद है। याद रहे, इसमे ताज्जुब भी क्या ? आखिरकार उस दिन वह उनकी गृहस्थी में एक महापरिवर्तन का रूप ला रहा था। इतने स्नेह से संजोई कविता की पंक्तियों में वह छन्दपतन का स्वरूप था। उनकी स्वच्छन्द बहती जीवन-सरिता मे एक प्रकार से रुकावट बन कर आ रहा था वह।

रुकावट के आ जाने से जीवन-धारा रोकी तो नहीं जा सकती, अतः शकुन्तला को अपनी जीवन-तरंगों को एक बार फिर से सजाना पड़ा था। पराशर की अवांछित उपस्थिति को सन्तोष की खातिर स्वीकार भी कर लेना पड़ा था। फिर भी वह पहला दिन उसे भूला नहीं था। याद तो ऐसे है, जैसे कल की घटना हो।

आया था वह शाम के कुछ पहले।'''पति के दोस्तो से परिचित होने का मौका शकुन्तला के जीवन मे पहले कभी नहीं आया था। आता भी कैसे ? शादी के बाद से तो वह लगातार नीलमणिपुर की कब्रगाह मे ही पड़ी रही थी।

शकुन्तला के घर से निकलते ही सामने थोड़ी सी ऊबड़-खाबड़ जमीन है। सुना है आगे कभी यहाँ से सड़क निकाली जायेगी। इम्प्रूवमेण्ट ट्रस्ट के इस आश्वासन को सत्य का रूप देने के लिये एक किनारे रेत और स्टोन चिप्स की दो ढेरें न जाने कब से पड़ी हैं। पहले शायद काफी ऊँची थी ये ढेरें, पर हवा और मुहल्ले के बच्चों की मेहरबानी से अब उसका एक तिहाई भर बचा है।

गाड़ी आकर घर से थोड़ी दूर, चिप्स और बालू की ढेर के किनारे रुकी। आवाज सुन शकुन्तला चौकन्नी होकर उठ खड़ी हुई। बेचारी समझ नहीं पा रही थी कि जल्दी से पर्दे में चली जाये या गृहस्वामिनी का रोल अदा करती आगे बढ़ कर मेहमान का स्वागत करे। सोच-विचार के बाद उसने इन दोनों का एक भी न कर जहाँ थी वहीं खड़ी रहना उचित समझा। देखा जाये, सन्तोष की क्या इच्छा है। स्वभाव से वह शर्मीली बिल्कुल भी नहीं, लेकिन यह आगन्तुक सन्तोष का दोस्त है, अतः सन्तोष

का लिहाज तो करना ही है। और फिर, जिसके आने के मामले में इतना विरोध किया था, आगे बढ़ कर उसकी अभ्यर्थना करना कहाँ की अक्लमन्दी है ?

सन्तोष ने पराशर से कहा था कि पहले दिन रात का खाना उन्ही लोगों के साथ खाये। शकुन्तला ने समय रहते ही तीन-चार चीजें बना ली थी। पूरी का आटा भी तैयार कर रखा था। इरादा था खाते वक्त गरम पूरियाँ सेंक देगी स्टोव पर। घर की सजावट में भी थोड़ी बहुत रद्दोबदल कर उसे और भी सुन्दर बना दिया था। अपने साज-पोशाक में भी कुछ थोड़ा अधिक ध्यान दिया था।

उसके मन में यह डर था कि पराशर ऐसा न सोचे कि दोस्त की बीवी निहायत ही गँवार-जाहिल है। ऐसा-वैसा कोई होता तो शायद शकुन्तला को इतनी फिक्र न होती। यह ठहरा एक जीता-जागता साहित्यिक। वैसे, पराशर की किताबें शकुन्तला को खास रुचिकर नहीं लगती। उसने सब पढ़ी भी नही। दो-चार पढ़ी हैं। कुछ ही महज इसलिये कि वे सन्तोष के पास पड़ी थी। शकुन्तला का ख्याल है कि पराशर की किताबों में अपनी विद्वत्ता जाहिर करने की इच्छा उत्कट रूप से प्रकट है, उसकी भावनायें साहस की साधारण सीमाओं का अतिक्रमण करती हैं। घरेलू बंगाली लड़की को अच्छी लगें, ऐसी किताबें पराशर नहीं लिखता।

फिर भी। खासकर, नाम जब उसने कमाया ही है तो शकुन्तला कैसे उसकी अवहेलना करे ?

बैठक में, खिड़की के करीब मूढ़े पर बैठी शकुन्तला उन लोगों की राह देख रही थी। उसके हाथ में ऊन का एक गोला और दो सलाइयाँ थी। यह बुनने के लिये कम, दिखावे के लिये अधिक है, यह उसकी चकित दृष्टि से बार-बार इधर-उधर देखना ही बता रहा था। वह भी क्या करे, मन उसका चंचल था, एक अनजाने भय और कौतूहल से।

गाड़ी से सूटकेस खींच कर बाहर लाता है सन्तोष। ड्राइवर उतर कर डिकि खोल दरी में लिपटा विस्तरा बाहर कर देता है, जिसके नीचे एक खूब मजबूत स्टील ट्रंक है। ट्रंक भी बाहर आता है। शकुन्तला ने मन में सोचा कि इसमें शायद साहित्य का सामान है।

सन्तोष और ड्राइवर मिल कर ट्रंक उठा लाये। पराशर किराया दे रहा है। दरवाजे के पास ट्रंक उतार कर सन्तोष ने कहा, 'शुक्र है, तुम यही हो, मैं सोच रहा था कि पता नहीं कहाँ छिप कर बैठी होगी तुम। सुनो····मतलब यह····यानी जरा अच्छी तरह···यानी खुशी से बातचीत करना···अच्छा ? उसको बुरा न लगे··· बेचारा ··।'

'ठीक है जी। इतनी जाहिल नही मैं कि घर आये मेहमान को····'

शकुन्तला के वाक्य पूरा कर पाने के पहले ही सन्तोष वापस भागा, बाकी सामान उठवाने के लिये। धूल उड़ाती टैक्सी गोधूलि बेला के नीम अन्धेरे मे गायब हो जाती है। घर की ओर आते हुये दोनों दोस्तों पर डूबते सूरज की सुनहली किरणें

शोभा-विस्तार करती है। मजबूत कदमों से वे आगे बढ़ते हैं। एक के हाथ में सूट-केस, दूसरा बिस्तरा झुलाये। मुग्ध दृष्टि से उनका आना देखती है शकुन्तला।

पराशर सन्तोष से काफी लम्बा है। उसकी काठी ही लम्बी है। दुबला तो नही है, पर लम्बा होने के साथ छरहरा भी। जितना लम्बा वह है, अगर उसी हिसाब से चौड़ा भी होता तो पहलवान लगता। रंग सन्तोष से काफी साँवला है। सुतही नाक, उज्ज्वल आँखें, चौड़े माथे से दीप्ति छलक रही है।

सूटधारी गोरे सन्तोष की स्मार्टनेस के बगल मे पराशर का महीन कुर्ता और लटपटाती धोती मे होना उसे कुछ ढीले-ढाले 'बाबू' की आकृति दे रहा है कि थोड़ी-सी मेहनत करने पर ही थक कर चूर हो जायेगा। मतलब यह कि साँवला होने के बावजूद भी पराशर मे ऐसा कुछ है, जिससे वह पैसेवाले घर का लड़का मालूम होता है। उसके हाव-भाव मे ऐसा आभिजात्य है कि उसे देखते ही देखने वाले के मन में श्रद्धा जागती है। लगता है कि साधारण व्यक्ति से यह भिन्न है। कुछ दूर का है।

बगल में चला आ रहा है सन्तोष। शकुन्तला देख रही है। सूट पहने है। गोरा है। स्मार्ट भी है। फिर भी उसमे उस आभिजात्य का लेशमात्र नही है। उसमे कान्ति है, लावण्य है। गोरा तो है ही। फिर भी वह निहायत साधारण, निहायत निकट का, अति परिचित। रहस्य का लेश भी नही उसमें।

क्या परिचित है इसीलिये उसमे रहस्य का रस नही बचा? पर क्या सभी लोग परिचित हो जाने से ऐसे हो जाते होंगे? क्या ऐसे मौके नही आते जब अत्यन्त परिचित लोग भी अनजाने से नही लगते? अति प्रिय परिचित व्यक्ति के साथ भी क्या ऐसा कभी नही होता कि अचानक वृहत् व्यवधान आकर बीच में खड़ा हो उसे अपरिचित बना दे?

'तो आ गया मैं आपको परेशान करने।'

सूटकेस फर्श पर रख कर नमस्कार किया पराशर ने।

'परेशानी की क्या बात है जी?' शकुन्तला और अन्तरंग अभ्यर्थना करने से हिचकती है। पता नही, विश्वासघाती सन्तोष ने दोस्त से क्या-क्या कहा है। वह यह सब काम खूब अच्छा कर लेता है।

पराशर ने कहा, 'इस वक्त आपकी तहजीब आपको यह बात मानने से रोक रही है बेशक, पर आगे चल कर मेरी बात आप जरूर मानेंगी। एक बात मगर आपसे कहना चाहूँगा। मेरा यहाँ आपको तंग करने आना यह मेरा अपना आइडिया नही। इसकी पूरी जिम्मेदारी आपके पतिदेवता की है। उसने मुझे इतना तंग करना शुरू किया कि⋯।'

'पता है मुझे। अब जाइये हाथ-मुंह धो कर फ्रेश हो लीजिये। मैं चाय का इन्तजाम करूँ।'

'अरे, जल्दी क्या है? मैं कहीं जा तो रहा नही हूँ। आपकी मेहमाननवाजी का पूरा फायदा उठाऊँगा। फिलहाल बैठिये न।'

सन्तोष ने कहा, 'सो तो ठीक है, मगर मुँह-हाथ धोकर बैठते तो....'

'क्यों ? क्या मैं बिना नहाया-धोया-सा लग रहा हूँ ?'

'नहीं, ऐसा नहीं। तुम तो बिल्कुल वर्षा से धुले श्यामल पत्र से लग रहे हो।'

'अरे वाह् यार, मौका पाने पर कविता भी कर लेता है तू !'

'मजबूरी जो न करवाये भाई ! अब तू यहाँ रहेगा, तो मुझे भी थोड़ी-बहुत कविता-अविता तो करनी ही पड़ेगी, नहीं तो घरवाली घास नहीं डालेगी। खैर, तुझे मुँह नहीं धोना है तो मत धो। शकुन्तला से बातचीत कर। मैं चला नहाने।'

'पतिदेव का हुक्म सुना न आपने ? आइये, शुरू करिये बातचीत।'

मुस्करा दी शकुन्तला। बोली, 'बातचीत क्या इतना हिसाब बैठा, हुक्म मान कर शुरू होती है ?'

'यह भी ठीक कहती हैं आप। जो भी हो, आपके इस एकान्त और गोपन बसेरे में मेरा आना, यह तो आपको बहुत ही खला होगा, क्यों ?'

'खला भी हो, तो क्या मैं उस बात को आपके आगे स्वीकार करूँगी ?'

'फिर भी। तो यह मान लिया जाये कि खला है ?'

'इस स्थिति में किसको नहीं खलेगा भला ?'

बड़ा आनन्द आ रहा था पराशर को। ऐसी शार्प और हँसमुख होगी सन्तोष की पत्नी, ऐसा उसका ख्याल न था। उसने सुन रखा था कि शादी के बाद से वह लगातार गाँव में रही है। हाल में, घर ले उसे ले आया है सन्तोष।

यह सुनते ही सन्तोष की पत्नी का जो चित्र उसके मन में उभरा था, उसमें सन्तोष की पत्नी नामक जीव को उसने माथे पर थाली के नाप का सिन्दूर-टीका लैस एक बोदी शक्ल वाली स्त्री समझ रखा था। वह जीव जो गाँव छोड़ शहर में घर बसा पाने के सौभाग्य से मारे खुशी से आपे से बाहर हुई जा रही हो। जो भी हो। यह वैसी नहीं। इसके साथ एक घर में रहना उतना भयंकर नहीं होगा जैसा कि कल्पना में देखी सन्तोष की पत्नी के साथ होता।

शकुन्तला ने पूछा, 'क्या सोचने लगे ?'

'आप ही बताइये न, क्या सोच रहा था ?'

'दूसरे के मन की बात भाँपने की विद्या तो मैंने पढ़ी नहीं।'

'फिर भी। अनुमान नामक साधारण विद्या तो सभी के पास होती है।'

'तो फिर, तो फिर, शायद आप सोच रहे होंगे कि ऐसी मुँहफट स्त्री के साथ कैसे रह पायेंगे ?'

'बिल्कुल गलत। मैं सोच रहा था, किसे मालूम था सन्तोष के घर में इतना ऐश्वर्य है।'

देखा जाये, तो यह मानना ही पड़ेगा कि शकुन्तला सुन्दर है। एकलौते बेटे के लिये बहू की तलाश में ननीबाला ने अपने समाज के कुमारी-कुल को परख डाला था। फिर भी, ऐश्वर्य का उल्लेख होते ही मुँहफट शकुन्तला भी झेंप गई। अपनी झेंप को

छिपाने के प्रयास में उसने कहा, 'ऐश्वर्य का नमूना देख कर ही राय मत दीजिये, परिचय तो धीरे-धीरे मिलेगा।'

'जानने की इच्छा बरकरार है।'

'ठीक है। फिलहाल चाय का इन्तजाम करूँ।'

हाँ, साफ याद है शकुन्तला को। नहा कर महीन कुर्ता और उसके नीचे जालीवाली बनियान पहन कर आया था सन्तोष। उसे इस रूप में देख शकुन्तला का दिल गज भर का हो गया था। तेज रोशनी देने वाली बल्ब की रोशनी के नीचे जब वह बैठा, तो शकुन्तला को ऐसा लगा कि कमरे की रोशनी को चांद लग गये चार-पांच। कुर्सी पर बैठ पांव नचाते हुये उसने पराशर से कहा था, 'तुम्हें कोई परेशानी नहीं होगी। मकान तो छोटा है पर बाथरूम दो हैं। मकान-मालिक शौकीन तबियत के आदमी थे। दुर्भाग्य से एकतला बनवाने के बाद ही चल बसे। ऊपरी माला बनवा न पाये। उनके बेटों ने मकान किराये पर चढ़ा दिया। मकान की शुरुआत उन्होंने बड़े ठाठ से की थी पर बेचारे काम पूरा न कर पाये।'

पराशर ने पता नहीं क्या सोच कर कहा, 'शुरुआत तो मेरे भाई, सभी बड़े ठाठ से करते हैं, मगर काम उसी ठाठ से पूरा कर पाने का सौभाग्य बिरलों को ही हासिल होता है।'

उस शाम को चाय के साथ नाश्ते का सामान जरा कम था। सन्तोष ने विस्मित होकर पूछा, 'क्या बात है कुन्तल ? घर में आज मेहमान है और आज ही नाश्ते की तश्तरी की यह दीन दशा ?'

शकुन्तला शर्माई नहीं। तुनक कर बोली, 'तुम भी खूब हो ! नाश्ते में ज्यादा सामान रख कर मेहमान का पेट भर दूँ और यह जो दिन भर चूल्हे-चौके से जूझ कर तमाम सामान बनाया मैंने, उसका क्या होगा ? मेहमान जब तक भूख से कुलबुलाये नहीं, पकाने वाले को अच्छा सार्टीफिकेट नहीं मिलता।'

'इस कमरे को देख कर लगता है कि तुमने इसे मेरे उद्देश्य में उत्सर्ग किया है।' पराशर ने हँस कर कहा था।

सन्तोष ने जवाब दिया था, 'सही है तुम्हारा अनुमान। यह कुर्सी तुम्हारे बैठने के लिये। यह मेज लिखने के लिये। इस आलमारी में किताबें रखोगे। वह जो मेज का नन्हा बच्चा है, उस पर तुम टेबुल-लैम्प रखोगे, और यह है तुम्हारी शय्या।'

'इसे केवल शय्या कहने से इसका अपमान करना होता है। कहो राजशय्या। मुझे तो इस पर सोते डर लगेगा, सन्तोष। इससे तो, मेरी मान कर यह सब हटा लो। मैं अपनी दीन-हीन शय्या बिछा कर लेटूं। आखिर उसे भी तो काम में लाना ही है।'

सन्तोष के कुछ कह पाने के पहले ही शकुन्तला बोल पड़ी, 'ऐसा तो जी, हो

ही नहीं सकता। मेहमान सर्वदा गृहस्वामिनी के अधीन रहता है। उनकी हर आज्ञा का पालन करता है। यही नीति है।'

'मतलब कि पूर्ण रूप से असहाय और आत्म-समर्पित होना है ?'

'हाँ। नहीं तो निरन्तर झगड़े-टण्टे।'

'यहाँ तुम्हारे लेखन का काम ठीक ही ठीक चलेगा, क्यों ?' सन्तोष ने कृतकृत्य-भाव से पूछा।

'देखें। तक़दीर मेरी और आशीष तुम्हारी। डर लग रहा है, क्योंकि देखा गया है कि अत्यधिक आराम से कला-प्रतिभा निष्क्रिय हो जाती है।'

'यह किसने कह दिया ?'

'कहा है पृथ्वी के इतिहास ने। और यह एक परीक्षित सत्य है। ज़रा भी झूठ या फरेब नहीं। मानसिक पीड़ा, शारीरिक कष्ट-असुविधा, यही हैं कलाकार के लिये परम आशीर्वाद।'

शकुन्तला ने कहा, 'यही अगर परीक्षित सत्य है, तो माफ़ करें। मैं जन्म-जन्मान्तर में कभी कलाकार नहीं बनना चाहूँगी।'

'जरूरत भी नहीं। आप लोग तो प्रेरणा-स्रोत के रूप में ही अच्छी लगती हैं।'

ऐसी ही हँसी-मजाक की फुहार के बीच पराशर ने एक बेढंगी बात कह डाली। कहा, 'मकान का किराया आधा मैं दूँगा।'

सन्तोष ने अचकचा कर कहा, 'क्या कहा तुमने ?'

'मैंने जो कहा, धीरे से तो कहा नहीं कि तुमने सुना न हो। अतः दुबारा कहना जरूरी नहीं। घर में दो उपार्जनशील व्यक्ति हैं, अतः किराये का बँटवारा होना बिल्कुल ही वाजिब है।'

इन बातों में फँसना नहीं चाहती थी शकुन्तला, अतः वह चुप रही। सन्तोष ने गम्भीर होकर कहा, 'सच बात है। बिल्कुल वाजिब है। पर एक बात है, मकान किराये पर देना मेरा पेशा नहीं है।'

'नाराज क्यों होता है यार ? तू ही सोच जरा....।'

'अब सोचने को रहा ही क्या ? इतने दिनों तक इस मुद्दे पर इतने सोच-विचार के बाद भी अगर तुम्हारा यही ख्याल बना है, तो ठीक है।' कह कर सन्तोष ने उठ कर एक हाथ में पराशर का सूटकेस लिया, दूसरे में बिस्तर और बोला, 'इस इलाके में टैक्सी मुश्किल से मिलती है, पराशर। बस से ही जाना पड़ेगा। ट्रंक फिर कभी पहुँचा दिया जायेगा।'

शकुन्तला की बोलती बन्द हो गई, पर पराशर के ठहाकों से कमरा गूँजने लगा। उस वक्त वह इतना सुन्दर लग रहा था! यह वैसे कोई खास बात नहीं, क्योंकि दिल खोल कर हँसते वक्त हर कोई सुन्दर लगता है।

बड़ी मुश्किल से हँसी रोक उसने कहा, 'यह तो मैं जानता था कि मेरे इस प्रस्ताव से तू जल-भुन कर कबाब हो जायेगा, पर मेरी बात तो जरा सोच! अरे, तू

ही बता, कहीं भी रहता, तो देता न किराया ? ऐसे मुफ्त में तेरे घर में रहूँ, तो मुझे चैन कैसे मिले ?'

'तुम्हें चैन दूँगा, ऐसा ठेका मैंने कभी लिया हो, ख्याल नहीं। तुम रहो चाहे नही, मकान-मालिक को किराया देना ही है। पहले भी दिया है, बाद में भी देना है।'

'अरे, तू समझता क्यों नही ?'

पराशर की इस बात के जवाब में शकुन्तला ने हल्की-सी मुस्कराहट के साथ कहा, 'समझ तो आप भी नही रहे हैं जी। इसीलिये आप उल्टी गंगा बहा रहे हैं। आपको तो यहाँ रहने के लिये उचित कुछ मुआवजे की माँग पेश करनी चाहिए। आपको शायद पता नही, आपके दोस्त आपको लाये हैं एक खास मकसद से। उनका कहना है कि आप यहाँ चोर-डाकुओं के हमलों से हमारी रक्षा करेंगे। उन्हें मार भगायेंगे।'

'चोर-डाकू ? मार भगाऊँगा ?'

'नही तो क्या ! पूछिये अपने मित्र-प्रवर से। सारी रात जाग कर आप पहरेदारी करेंगे, यही आपकी ड्यूटी है।'

फिर कहकहों का जो सिलसिला चला तो चलता ही रहा। उस फुहार में किराये की बात कहाँ उड़ गई, पता न चला। हँसी रुकते-रुकते रात के खाने का वक्त हो गया।

खाना खाते वक्त हर कौर की तारीफ करता रहा पराशर और सन्तोष लगातार कहता रहा कि शकुन्तला इससे भी अच्छा खाना बनाती है। आज बेकार का आदमी खायेगा, जान उसने बेमन से खाना बनाया है।

झूठ-मूठ की लड़ाई।

प्रयास-सिद्ध मजाक।

अरे, यही तो है जम कर गप मारने का असल मामला। दूसरों की आलोचना ? परचर्चा ? परनिन्दा ? यह तो सभ्य समाज में चलती नही। यहाँ तो अक्ल पर हर वक्त जोर डालना है, माँज-माँज कर उसे चमकीला और धारदार बनाना है, ताकि खूब तेज-तेज बातें झटापट जबान पर आती जायें। शब्दों की लड़ाई के दाँव-पेंच में बुद्धू न बनना पड़े।

पराशर के लेट जाने के बाद ये दोनों मित्र को शुभ रात्रि जताने आये।

सन्तोष ने कहा, 'मच्छरदानी सावधानी से खोसना। यहाँ के मच्छर अपनी बहादुरी के लिये दूर-दूर तक प्रसिद्ध हैं।'

पराशर की दृष्टि खिड़की के बाहर निबद्ध थी।

कौन-सी तिथि थी वह ? शायद पूनम के आस-पास की कोई तिथि थी। खिड़की के बाहर की दुनिया साफ-साफ दीख रही थी। जंगल काट कर शहर बसाया जा रहा है। ईंट पर ईंट सजाने की प्रक्रिया में कोई विराम नही, थकावट नही। यहाँ के

आदि निवासियों को भगा कर अब मानव-कीट बसेंगे यहाँ। अभी भी जंगल पूरी तरह साफ नही हुआ है। यहाँ-वहाँ अभी भी बड़े-बड़े पेड़ हैं, हैं छोटी-छोटी झाड़ियाँ। क्या नाम है इन झाड़ियों का ? बनतुलसी ? घृतकुमारी ? या सीज की झाड़ी है ?

बाहर से निगाह अन्दर ला कर पराशर ने कहा था, 'शहद के साथ डंक, गुलाब के साथ काँटा जैसे हम लिया करते हैं वैसे ही हरियाली के साथ मच्छर को भी स्वीकार कर लेना उचित है।'

शकुन्तला बोली, 'अभी क्या करेंगे आप ? रात भर लिखेंगे ?'

'लिखूँगा ?' पराशर ने हँस कर कहा था, 'नही, आज की रात लिखूँगा नही, सिर्फ सोचूँगा।'

कुछ देर चुपचाप।

'इस तिपाई पर पानी रखा है आपके लिये।'

'शुक्रिया, बहुत-बहुत। त्रुटि-हीन आतिथेयता के निर्मल आनन्द से उल्लसित हो अब जाकर आराम कीजिये।'

हँस कर वे दोनों चले आये थे। आने से पहले तेज रोशनी की बत्ती बुझा हल्की नीली वाली जला आये थे।.........

क्षण भर में कमरे का स्वरूप ही बदल गया। बदल गया मर्त्य लोक से स्वप्न-लोक में।

मेहमान की सुख-सुविधा का पूरा ख्याल रखा है इन दोनों ने। अभी उम्र कम है न, मनुष्य की कीमत अभी तक इनकी निगाह में घट नही गयी है।

एक बात और भी है, औरों को सुख-सुविधा देने, देख-रेख करने का एक नशा भी होता है। अधिक से अधिक करते रहने का एक अपना आनन्द होता है।

एक बात शकुन्तला के मन में अक्सर उठती।

उस रात को सन्तोष और शकुन्तला के चले आने के बाद क्या सोचता रहा पराशर ? उसने कहा था, 'आज-सिर्फ सोचूँगा।' किन विषय पर सोचना था उसे ?

किसी निर्णय पर पहुँच न सकी थी वह। कई-कई विषयों पर उसका ध्यान गया, पर निर्णय पर नहो। पराशर की कहानी के कथाकार से मगर कुछ भी तो छिपा नही, उसे पूरी तरह मालूम है, उस रात पराशर क्या सोचता रहा।

पलंग पर पाँव लटकाये बैठा पराशर पहले तो सारे कमरे का जायजा लेता रहा। देखता रहा अपने को इस नये परिवेश में और सोचता रहा—'वाह भाई ! यह किस विडम्बना में पाँव रखा मैंने !'

सन्तोष ने जब उससे यहाँ आने का प्रस्ताव किया था, पराशर ने उस वक्त 'पागल का पागलपन' कह कर उड़ा दिया था। अन्त तक उसी पागलपन के कीचड़ में पाँव रख ही दिया।

अपना घर रहते दूसरे के घर में रहता है कभी कोई ?

अपना घर ?

हाँ, लोग ऐसा ही कहते हैं।

लेकिन, माँ-बाबू के चल बसने के बाद से उत्तर कलकत्ते की एक सँकरी गली में बना, गली से भी पुराने उस मकान के प्रति उसके मन मे कोई लगाव ही न बचा था। उनके जाने के बाद से, श्री-हीन शोभा-हीन वह मकान उसे काटने दौड़ता था। दम घुट जाता था उसका उसमें।

फिर भी, बचा-खुचा जो थोड़ा-बहुत लगाव था वह भी खत्म हो गया भैया के तबादले के बाद।

तबादला हो कर भैया चले गये मद्रास और घर खाली पड़े रहने के बहाने, पराशर की अनिच्छा का ख्याल किये बिना ही अपनी ससुराल के रिश्तेदारों की लम्बी-चौड़ी फौज को उसमें भर गये।

भाभी बोली, 'यह तो लालाजी, तुम्हारे लिये अच्छा ही हुआ। जैसे मेरे पास थे, वैसे मेरी भाभी के पास रहना। नौकर—रसोइये की कृपा के भरोसे नही रहना पड़ेगा।'

हो सकता है, भाभी ने यह सच ही उसकी भलाई का ख्याल रख कर कहा था। सचाई तो यही है कि भाभी की देख-रेख में उसे खाने-पीने की जरा भी तकलीफ नहीं थी। पारिवारिक हल्ले-गुल्ले से बचने को उसने बोरिया-बिस्तरा उठा कर छत वाले कमरे मे बसेरा डाल लिया था। दिन बीत रहे थे। पर तकदीर में सुख बदा न हो, तो कोई क्या करे ? परेशानी शुरू हो गई, जब भाभी की मौसेरी भाभी उसे अपना दामाद बनाने के सपने सँजोने लगी। क्या पता, उसकी अपनी भाभी के उकसाने से ही इन मौसेरी भाभी ने यह साहस जुटाया हो।

कुछ ही दिनो मे जब मौसेरी भाभी ने अपनी जवान उम्र की कन्या को पराशर के कमरे में भेजना शुरू किया, कभी चाय, कभी नाश्ता पहुँचाने, तब पराशर मारे डर से घर छोड़ कर भाग खड़ा हुआ। बहाना बनाया कि उसे नई नौकरी मिल रही है। दफ्तर घर से बहुत दूर है। यहाँ से आने-जाने में बहुत वक्त लगेगा, अतः दफ्तर के करीब घर लेगा या मेस में रहेगा, सहूलियत के लिये।

सन्तोष मगर इस असलियत से वाकिफ नही।

दोस्तों को मजाक करने के लिये इससे अच्छा मौका और क्या मिल सकता है कि पराई लड़की के डर से घबरा कर पराशर अपना घर छोड़ कर भाग गया है।

घर से भागने की बात तो जैसी भी हो, आज पराशर का हाल क्या है ?

दूधिया चाँदनी में नहाये उस परिवेश में, हल्की रोशनी में डूबे उस सुन्दर कमरे के नरम बिस्तरे पर बैठे पराशर का दिल एक अनजाने भय से काँप क्यों रहा है ? किस अनिष्ट के पूर्व ज्ञान की काली छाया इस आनन्दमय परिवेश को कालिमा-लिप्त कर रही है ? अपने पर छाने वाले भय और आशंका से परेशान होने लगा पराशर। इस दुर्बलता को प्रश्रय देने के लिये अपने से क्रुद्ध भी।

क्यों ? ऐसा क्यों लग रहा है ?

डर किस बात का ?

क्या इसलिये कि उत्तर कलकत्ते का रहने वाला वह इतने निर्जन सूनसान में कभी रहा नहीं ? उसका घर गंगा के करीब है, इसलिये चार बजने के पहले से ही स्नानार्थी जनों की पगध्वनि और नाम-कीर्तन शुरू हो जाता है। रात को कितनी ही बार श्मशान-यात्रियों की 'हरिबोल' से नींद खुलती थी। अतः सन्नाटा कहाँ ?

फिर मेस का जीवन जो शुरू हुआ, तो वहाँ दूसरे किस्म का शोर-शराबा। पानी की कमी के कारण चार बजते न बजते मेस-वासियों की नहाने और कपड़े धोने की प्रतिस्पर्द्धा शुरू हो जाती है। तो, सन्नाटा वहाँ भी कहाँ ? हाँ, शायद यही कारण है।

क्या इतने शोर का आदी है वह, कि यहाँ की निर्जनता और शब्द-हीनता से जी घबरा रहा है उसका ?

लेकिन ऐसा तो हो नहीं सकता, क्योंकि उन दोनों जगहों में रहने के दर-मियान वह रात-दिन निर्जनता की कामना करता था। प्रार्थना करता था किसी अदृश्य शक्ति से कि उसे एक ऐसा निर्जन परिवेश दे, जहाँ वह अपने विक्षिप्त होते मन को समेट कर लिख सके। सोचता अगर अनुकूल परिवेश मिले तो कितना कुछ लिख जाता वह।

और आज जब निर्जनता मिली है, मिला है अनुकूल परिवेश, तब उसके मन में यह कैसी आशंका ? ऐसा क्यों लग रहा है कि यहाँ वह कुछ भी नहीं लिखने पायेगा ?

हटाओ। गोली मारो। देखा जाये, क्या होता है।

नीली रोशनी वाली बत्ती बुझा कर लेट गया पराशर।

उसके बाद ?

उसके बाद स्वप्न-लोक से तिमिर-लोक में गमन।

उस रात नींद जल्दी किसी को भी नहीं आई थी।

सन्तोष की साँस ले सन्तोष सोच रहा था, 'बड़ी कृपा भगवान् की कि शकुन्तला ने अपनी नाराज़गी पराशर के सामने जाहिर नहीं की, बड़ी अच्छी तरह से बातें की उससे।'

शकुन्तला सोचती रही, 'आदमी बुरा नहीं। अपनी किताबों की तरह रसहीन भी नहीं। जो भी हो, रहेगा ही तो, उसे खिलाना-पिलाना नहीं पड़ेगा, यह बड़ी अच्छी बात है। हो सकता है, कभी एकाध प्याली चाय देना पड़े।'

मतलब कि आज शकुन्तला को लग रहा था कि बाहरी आदमी को टिकने की जगह देना उतना बुरा नहीं, जितना बुरा है उसके खाने-पीने का इन्तजाम करना।

इतने गहरे अन्धकार में अचानक प्रकाश की यह रेखा कैसी? नींद में डूबी आँखों की बन्द पलकों पर सूर्य-किरण की यह कैसी थिरकन? नींद खुली हड़बड़ा कर। चौंक कर उठ बैठते ही पराशर ने देखा कि उसके सिरहाने की ओर खुलने वाली खिड़की के पल्लों को बाहर से खोला गया है। बाहर की ओर खड़ा है सन्तोष। स्मित मुस्कान लिये। सन्तोष ने कहा, 'मैं सोच रहा था कि आज का मेरा पहला प्रश्न ही होगा, नई जगह नींद आई तो थी तुम्हें? पर अब देख रहा हूँ कि इस प्रश्न की कोई जरूरत नहीं।'

पराशर ने हँस कर कहा, 'ठीक ही कहते हो। पता ही नहीं चला कि किधर से रात बीती। नींद आये भी क्यों न? राजाओं को ईर्ष्या हो जाये ऐसे आराम-दायक बिस्तर-बिछावन से।'

दिन की रोशनी में पराशर ने एक बार फिर बड़े ध्यान से अपने कमरे को देखा। हर खिड़की में पर्दा। मेजपोश और तकिया-गिलाफें गृहस्वामिनी के शिल्प के नमूने। हरेक वस्तु में प्राणों का स्पर्श। कमरे की निपुण परिच्छन्नता पराशर के कलाकार मन को तृप्त करती है। अपने घर में उसने बराबर यही देखा है कि जिन्दगी जीने का अर्थ है किसी तरह समय बिताना, दिन काटना। रुचि या सौन्दर्य के बोध के लिये वहाँ कोई स्थान नहीं।

अगर थोड़ा-सा ध्यान दिया जाये, तो साधारण से साधारण चीजें कितनी सुन्दर, कितनी मोहक हो जाती हैं।

सुबह चाय की मेज की जमघट में पिछली शाम की उठाई बात फिर उठायी पराशर ने। कहा, 'तो भाई, इन्तजाम पक्का कर लिया जाये, क्यों?'

सन्तोष ने रुष्ट होकर कहा, 'हुक्म फर्माइये?'

'मकान का किराया कितना है, बताओ मुझे।'

'क्यों? कौन सी आफत आई है?'

पराशर ने कहा, 'अगर नहीं बताओगे, तो यह मानना पड़ेगा मुझे कि मेरा यहाँ रहना तुम्हारे लिये एक सामयिक घटना या एक्सपेरिमेण्ट है।'

'मतलब?'

'मतलब साफ है। कोई भी व्यक्ति मेहमान बन कर कब तक रह सकता है? सोच-समझ कर अक्लमन्दी से जवाब देना।'

अत्यधिक अक्लमन्दी से सन्तोष तर्क देता है कि मकान का यह कमरा तो वह ले ही चुका था, पराशर के लिये तो खासकर लिया नहीं। अब तक हर प्रकार से खाली ही पड़ा था। अगर दोस्त के काम आये तो यह सन्तोष की खुशकिस्मती है। इसके लिये किराया-भाड़ा कैसा ?

'तुम्हारा तर्क बचकाना है। इसमें कोई सार नहीं। अगर इसी पर अड़े रहोगे, तो मेरा यहाँ रहना नहीं हो सकता।'

इस पर शकुन्तला ने बड़ी गम्भीर मुद्रा बना कर पति से कहा, 'देखो जी, क्यों बेचारे साहित्यिक को धर्म-संकट में डालते हो ? उनकी मानसिक तुष्टि के लिये तुम खूब हिसाब लगा कर उनसे किराया लेना शुरू करो।'

चौंक कर सन्तोष ने कहा, 'यह क्या ? तुम भी उसी की तरफ़दारी करने लगी ?'

हताशा से सिर हिला कर शकुन्तला बोली, 'तुम ही बताओ, क्या रास्ता है ? अगर किराया नहीं लोगे, तो ये रहेंगे नहीं, और अगर नहीं रहेंगे, तो चोर-डाकुओं से हमारी रक्षा कौन करेगा ?'

ठहाके पर ठहाका गूंजने लगा।

ऐसी ही हँसी-मजाक और साग्रह अभ्यर्थना के बीच पराशर का इस घर में प्रवेश और अधिष्ठान हुआ।

अगले दिन शाम को पराशर जब लौटा, तो उसके हाथ में एक पैकेट था।

'बनियान लाये ?' सन्तोष ने पूछा।

'बनियान ? अरे नहीं, साड़ी।'

पैकेट खोल मेज पर साड़ी फैलाई पराशर ने। हँस कर शकुन्तला से बोला, 'देखिये। है पसन्द लायक ! साड़ी के मामले में अनाड़ी की खरीद है।'

शकुन्तला के कुछ बोल पाने के पहले ही साड़ी हाथ में ले सन्तोष ने जरा कटु होकर कहा, 'तो यह है इस महीने का किराया ?'

'तू भी यार, महाकण्डम है !' निराशा से हाथ झाड़ते हुये पराशर ने कहा।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि साड़ी किसी भी शौकीन महिला को ललचाने लायक थी। प्रिण्टेड सिल्क। चाकलेटी रंग के नरम रेशमी कपड़े पर सफेद की सूक्ष्म अल्पना। पहनने वाली गोरी हो तो उसके चार चाँद लग जायें।

सन्तोष के इस कटु-मन्तव्य पर शकुन्तला बुझ गई। स्थिति संभालने के लिये बोली, 'बड़े विचित्र हो जी तुम ! पराशर जी यह साड़ी किसके लिये लाये हैं, यह जाने-पूछे बिना ही ऊल-जलूल क्यों बकने लगे ?'

'वह किसके लिये साड़ी खरीदेगा भला ?'

'ऐसी क्या बात ? क्या तुम उनकी सभी बातें जानते हो ? हो सकता है, अपनी भाभी के लिये लाये हो।'

'भाभी ? पराशर की भाभी यह साड़ी बाँधेंगी ? हो चुका तब तो।'

'क्यों ? कोई बाधा है ?'

'प्रचलित अर्थ की जो बाधा है, वह तो नहीं। लेकिन आयु उनकी चालीस से ज्यादा है, और रंगत ऐसी कि·····।'

पति-पत्नी का कथोपकथन चल ही रहा था कि पराशर ने साड़ी फिर से तहा कर पैकेट में भर ली। शकुन्तला ने सोचा कि भाभी के रंग पर सन्तोष का कटाक्ष ही पराशर की खीझ का कारण है। सच, यह सन्तोष भी, क्या कहना उचित है क्या नहीं, इसका उसे तनिक भी बोध नहीं। दोस्त है तो क्या, अपने परिवार की किसी महिला के रूप-रंग पर ऐसे कटु शब्द कोई भी सह नहीं सकता।

सन्तोष को मगर इन सबकी चिन्ता नहीं। उसने सरलता से पराशर से कहा, 'क्या हो गया ?'

'होता क्या ?' सन्तोष की बात पर पराशर ने बेमन से कहा।

सन्तोष को फिर भी होश नहीं। उसी रौ में कहता रहा, 'तू बुरा माने चाहे भला। तेरी भाभी को मैंने देखा न होता, तो बात और थी। पर उनके दर्शन का सौभाग्य तो मुझे हो चुका है, मेरे भाई।'

'भाड़ में जाये भाभी! मुझे कुत्ते ने काटा है कि मद्रास में बैठी भाभी के लिये बेकार, बेमतलब साड़ी खरीदने लगा! मैंने सोचा, तेरी शादी में मैं था नहीं, बहू को पहले देखा नहीं, मुँह दिखाई भी नहीं दिया था। कल जब मिलना हुआ, तब खाली हाथ ही मिला। सो उसी के लिये लाया था। मगर तू ऐसा गावदी की तरह बोलने लगा कि देने की इच्छा ही खटाई में पड़ गई मेरी। जाने दे। वापस ही कर दूँगा।'

बिजली की तेजी से पैकेट उठाती, किलकारी भरती शकुन्तला बोली, 'अब आप दे चुके वापस। यह तो मेरा प्राप्य है। पहले क्यों नहीं बोले थे आप ?'

'उस गावदी ने कुछ भी कहने का मौका दिया ही कहाँ ? आपने जब मेरा इतना उपकार किया, तो थोड़ा उपकार और करें, इसे भी स्वीकार करें।' कहते हुए पराशर ने जेब में हाथ डाल एक छोटा पैकेट और निकाला। टिशु-पेपर में लिपटा चाँदी का सिन्दूरदान था वह।

अब शकुन्तला के झेंपने की बारी थी। सिन्दूर-सी लाल होती बोली, 'इसकी क्या जरूरत थी ? मुँह दिखाई में बहू को क्या दस-पाँच चीजें देनी जरूरी हैं ?'

'साड़ी के साथ सिन्दूर देना जरूरी होता है। यह हिन्दू-शास्त्र की विधि है।'

पराशर की 'शास्त्रीय' बात सुन शकुन्तला को हँसी आई। बोली, 'यह सब नानी-दादी वाला शास्त्र कहाँ से सीख लिया आपने ?'

'लेखक को बहुत कुछ जानना पड़ता है।'

सन्तोष ने कहा, 'मानता हूँ कि जानना पड़ता है, मगर क्या मैं पूछ सकता हूँ कि यह जानकारी तुमने कहाँ से हासिल की ? मैं भी तो गाँव में पला-बढ़ा, मगर ऐसी बातों से मेरा तो कभी परिचय नही हुआ। तुम्हें किसने सिखा दिया ?'

मुस्करा कर पराशर ने कहा, 'कान पकड़ कर थोड़े ही कोई कुछ सिखाता है लेखक को ! ईश्वरीय शक्ति के द्वारा खुद ही सारी बातें जान जाते हैं वे लोग। अगर यह शक्ति अपने में न हो, तो लेखक-लेखक नहीं बन सकता। यह तो एक निहायत मामूली बात है। लेखक और कितनी गूढ़ से गूढ़तर बातों का पता रखता होता है।'

बहस करने पर उतर आई शकुन्तला, 'एक बात मगर आपने गलत फर्मायी।'

'गलत ? वह कौन सी ?'

'आज के जमाने में बिना ज्यादा जाने भी लेखक बना जा सकता है। अगर वह खूब फेंट-फेंट कर नारी शरीर का विवरण देना जानता हो, मनुष्य की निकृष्टतम वृत्तियों के दो-चार उदाहरण पेश कर सकता हो और अगर गाली की भाषा लिख सकता हो, तो वह अवश्य ही बहुत ख्यातिमान लेखक बन सकता है।'

आधुनिक युग के एक लेखक के सामने ही शकुन्तला आधुनिक युग के लेखकों की ऐसी मिट्टी पलीद करेगी, ऐसा सन्तोष की कल्पना के अतीत था। उत्कण्ठित होकर वह इधर-उधर देखने लगा। मालूम नहीं, आगे क्या कहे।

शकुन्तला ने ही क्या कभी सोचा था कि सन्तोष के किसी मित्र के साथ वह इतनी साफ-स्पष्ट बातें कर सकेगी ? हो सकेगी इतनी स्वच्छन्द ?

संजीदगी की आड़ ले पराशर ने मजाक किया, 'मानता हूँ, महिलायें बटुए में खदकते चावल का एक दाना देख कर ही पकते सारे चावलों का हाल बता सकती हैं, पर हाथ जोड़ता हूँ आपको, लेखकों के मामले में अपनी इस विद्या को काम में मत लाइये।'

'नहीं। यह मेरे कहने का तात्पर्य नही कि सारे लेखक एक से हैं। मेरा मतलब इतना ही है कि ऐसे लोग भी लेखक कहलाते हैं।'

'मान गया। अब बहस खत्म। आपसे विनय है कि साड़ी पहनियेगा कभी। कल का दिन अच्छा है, हो सके तो कल ही पहनियेगा।'

आश्चर्य से सन्तोष की आँखें गोल-गोल हो गई, 'क्यो रे, और कितना-कुछ जानता है तू ? साड़ी तो साड़ी, चाहे जब जो पहने, इसके लिये तिथि, तारीख, दिन-मुहूर्त की क्या जरूरत ?'

'है, है। बहुत कुछ है। महिला-शास्त्र में ऐसी बहुत सी बातें हैं।'

सन्तोष ने शकुन्तला से पूछा, 'तुम इन मामलों के बारे मे कुछ जानती हो ?'

साड़ी की पल्लू-पाटली पर नजर फिराती हुई हास्यमयी शकुन्तला बोली, 'जानती क्यों नहीं।'

'अरे वाह ! तुम दोनों को बहुत सी बातें पता हैं, जिनके विषय में मुझे कुछ भी नहीं मालूम। क्या यह कोई बता सकता है कि मुझे कुछ भी मालूम क्यों नहीं है ? बचपन से आज तक मैंने बहुत बार अपने सामने बहुत कुछ होते-घटते देखा है। समझ ही नहीं पाता कि यह सब क्या हो रहा, क्यों हो रहा है, किसके लिये हो रहा है, इसे कभी पकड़ नहीं पाता।'

पराशर ने मौका पाकर तीर चलाया, 'इसका मतलब यह है कि तुम उस सम्प्रदाय के सदस्य हो, जिसे मित्र-मण्डली सुबोध मानती है और शत्रुजन अबोध कहते हैं।'

तीन

जिस घर में व्यक्ति रात्रि-यापन करता है, सुबह की चाय वहाँ न पीना प्रायः असंभव है। मना करना अत्यन्त अशोभनीय हो जाता है। मजबूर होकर सुबह की चाय पी रहा है पराशर, लेकिन इस जाल में वह और अधिक फँसना नहीं चाहता। पूर्व व्यवसाय के अनुसार खाना वह बाहर ही खा लेना ठीक समझता है। लेकिन इधर कुछ दिनों से सन्तोष ने बड़ा झमेला शुरू किया है। उसकी इच्छा है कि खाना पराशर यहीं खाये। वह रोज ही रट रहा है, 'यह नहीं हो सकता। ऐसे नहीं चल सकता।'

सन्तोष का तर्क है कि पराशर की छुट्टी जल्दी होती है। स्कूल में पढ़ाता है वह। चार बजते-बजते छुट्टी हो जाती है उसकी। महज खाना खाने के लिये उसे, यहाँ ऐसा सुन्दर कमरा रहने के बावजूद, रात के आठ-नौ बजे तक मध्य कलकत्ते की भीड़ भरी सड़कों का चक्कर काटना पड़े, यह ठीक नहीं। ठीक न होने के अलावा यह बात निहायत बेतुकी और मूर्खतापूर्ण हठ है।

इधर सन्तोष और उसकी पत्नी के लिये यह बहुत ही कष्टप्रद है कि पराशर के घर पर रहते वे खाना खा लें और वह बैठा रहे। क्योंकि जल्दी घर आ जाने पर वह दुबारा खाने जाता दस बजे के करीब। उसके पहले उसे भूख ही नहीं लगती।

पिछले कई दिनों से पति-पत्नी में इस मामले पर बातचीत हो रही है।

'यह बड़ा बुरा हो रहा है।'

'सच ही। बहुत भद्दा लग रहा है।'

'उसने पहले जब कहा, तब मैं समझ न सका था कि इतना बुरा लगेगा बाद में।'

'देखो न एक बार मना-बुझा कर। शायद मान जायें।'

'कहूँगा जरूर। लेकिन कहने पर वह फिर रुपये-पैसे की बात करेगा। तब क्या होगा?'

'देखो जी, बुरा मत मानना, इस मामले में मैं तुम्हारे दोस्त के साथ एकमत हूँ। तुम ही सोचो, दोस्ती चाहे कितनी भी पक्की या कितनी भी पुरानी क्यों न हो, कोई स्वस्थ आदमी राजी होगा मुफ्त में खाने को? तुम होते?'

'हथेली फैला कर रुपये नहीं ले सकूँगा मैं।'

'इतने शर्मदार हो, तो कह देना मेज पर रख देंगे ।' बोलती शकुन्तला हंस पड़ी ।

'तुम्हें क्या ? तुम तो हँस कर छूट जाओगी ।'

'ज्यादा डराओ मत । तुम कहो तो मैं ही ले लूँगी, बाकायदा हथेली फैला कर ।'

'अरे जाओ, ज्यादा बको मत ।'

'देखो जी, यह टालने की बात नहीं । अगर तुम पैसे नहीं ले सकते और साथ ही मेरे लेने में तुम्हें एतराज न हो, तो तुम्हारी राय-राजी से मैं खुद पराशर से बात करूँगी, पैसे ले भी लूँगी । उससे और लाभ हो या न हो, नित्यप्रति की हमारी जो यह मानसिक पीड़ा है, इससे हमें मुक्ति मिलेगी ।'

'पीड़ा से तो मुक्ति मिलेगी, मानता हूँ, लेकिन क्या तुम सचमुच यह कर सकोगी ?'

'औरत नहीं कर सकती, क्या ऐसा भी कोई काम है इस दुनिया में ?'

सन्तोष से शकुन्तला ने जब यह कहा था, तब उसने मजाक में ही कहा था । लेकिन ऐन वक्त पर उसने पराशर से कहा भी । क्या सन्तोष के लिये यह कभी मुमकिन होता कि पराशर से हँस कर पूछे, 'होटल में खाने का खर्च आपका कितना पड़ता है ?'

प्रश्न सुन पराशर अचकचा गया था । ठीक-ठीक जवाब भी न दे पाया था । परेशानी छिपाने के लिये उसने उलट कर पूछा, 'इस तुच्छाति-तुच्छ प्रश्न का हेतु क्या है देवी ?'

'हेतु बहुत ही साफ है । खूब अच्छी तरह हिसाब लगा कर वह रुपये मेरे किचन में जमा करवा दीजिये । फिर देखिये परख कर कि आपके होटल के महाराज से बढ़िया खाना मैं खिलाती हूँ या नहीं ।'

प्रसंग छिड़ते ही सन्तोष मैदान छोड़ कर भागा । शकुन्तला की बात उठाने के तरीके से दंग रह गया था वह । ऐसी भयंकर बात इतनी आसानी से कैसे बोली वह ?

पराशर ने सन्तोष का मैदान छोड़ भागना देखा । उसकी कमजोरी पर मुस्करा पड़ा वह । शकुन्तला के सामने खुलने के बजाय बोला, 'माफ करें देवी । आप यह कृपा-दृष्टि किसी और पर बरसाइये । होटल का महराज पेशेवर रसोइया है । यही उसका काम है । उसका खाना तो गले से उतर जाता । मेरी इस इकलौती जान को मैं किसी आधुनिका के आधुनिक पाक-कौशल का शिकार बनाने को राजी नहीं । मुझे बख्शिये । जिस पर एक्सपेरिमेण्ट चला रही हैं उसी पर चलाइये ।'

'परख कर देखिये न कुछ दिन ।'

'नाहक क्यों अग्नि-परीक्षा होगी मेरी ?'

'कहा जाये, आपका यह आत्मोत्सर्ग आधुनिकाओं के कलंक-मोचन के कारण हो रहा है तो क्या बुरा है ?'

'लेकिन इससे एक परेशानी उपज सकती है।'

अनजाने ही शकुन्तला की दृष्टि दरवाजे की ओर जाती है। नही, सन्तोष नही आ रहा है। जरा रुक कर वह कहती है, 'परेशानी ? किसकी परेशानी की बात कह रहे थे आप ?'

'आपकी परेशानी। आप जानती तो होंगी कि हमारे शास्त्रों में दीन को लालच देना मना है।'

'आपकी बातचीत से लगता है कि आपकी हर गतिविधि शास्त्रों की लक्ष्मण-रेखा द्वारा अनुशासित है। पर आपकी किताबें पढ़ने से तो·····'

'क्या हो गया ? रुक क्यों गईं ?'

'कह रही थी कि आपकी किताबें पढ़ने से लगता है कि आप समाज का कोई भी अनुशासन मानने को तैयार नही। इस विरोधाभास में असली 'आप' कौन हैं इसका पता लगाना दुरूह है।'

'ऐसा भी तो हो सकता है कि असली 'मैं' इन दोनों में से कोई नही।'

'तब तो स्थिति और भी भयंकर हो जाती है, न ? निःशंक होने के सारे रास्ते बन्द हो जाते हैं कि नहीं ?'

'निःशंक ही हो गईं तो बचा क्या ? मानविक कला की खूबी ही तो यह है कि दुनिया को अपने विषय में सदा सशंक रखा जाये। दुनिया के जिस प्रान्त में चाहे दृष्टि डाल कर देखिये। मनुष्य जाति का सारा धन, सारी शक्ति और उसकी सारी बुद्धि इसी में तो खर्च हुई जा रही है कि बाकी लोग संत्रस्त और शंकित रहे।'

मुस्करा कर शकुन्तला बोली, 'इतनी बड़ी-बड़ी बातें भला मेरी समझ में क्या आयेंगी ?'

'यह आपकी समझ में नही आतीं ? लगता तो नही।'

'कहाँ आती हैं ? आपकी किताबों की अधिकाधिक बातें मेरी समझ में नहीं आती। सोच रही हूँ अब आप से पूछ कर समझ लूँगी।'

'भगवान् बचाये !'

'भगवान् बचाये ? भला ऐसा क्यो ?'

'क्यों ? इसलिये कि लेखक के लिये सबसे बड़ा दण्ड यही है कि वह पाठक को, उसने जो कुछ लिखा है उसका अर्थ समझाये। जो भी हो, इस अकिंचन का लिखा पढ़ती हैं, जान कर कृतार्थ हुआ।'

अकड़ कर शकुन्तला बोली, 'अभी तक तो कोई खास नहीं पढ़ती थी, अब से पढ़ा करूँगी, क्योंकि जब तक उन्हें पढ़ूँगी नही, आपके मतामत के विषय में कुछ पता न चलेगा।'

'उन्हें जान कर आपका कौन-सा काम बनेगा ?'

'आपसे बहस करना आसान होगा।'

'आप बहस का रास्ता खुला छोड़ कहाँ रही हैं ? उस पर तो काँटे बिछाने पर तुली हैं आप ?'

'क्या मतलब ?'

'मतलब यह कि यह जो आप मुझे अपने किचन का पालतू बनाने की तैयारी कर रही हैं। अवश्य ही आपकी हर सब्जी में नमक खूब-सा होगा। और शास्त्र ही कहता है कि जिसका नमक खाओ उसके गुण अवश्य बखानो। झख मार कर मुझे भी आपका गुणगान करना पड़ेगा। तो फिर बहस कैसी ?'

'ठीक है, आगे से किसी भी चीज में नमक नहीं डालूँगी। सारा खाना फीका ही बनेगा।'

'तथापि मुझे आपके किचन का पालतू बनना ही पड़ेगा ?'

'अवश्य।'

फिर ?

फिर खाने की मेज पर दो के बजाये तीन थालियाँ लगने लगीं।

उसके भी बाद ?

उसके बाद के दिन केवल वर्षा से धुले, धूप से उजले दिन ही नहीं होते, उनमें इन्द्रधनुष के रंग मिश्रित होते।

सिनेमा, नाटक, जलसे, सभायें। बेलूड़, बोटानिकल गार्डन्स, दक्षिणेश्वर, आद्यापीठ। कुछ नहीं, तो लोकल ट्रेन में बैठे दस-बीस स्टेशन आगे चले जाना, व्यर्थ टैक्सी में बैठ कर लम्बा चक्कर लगाना। शहर का सारा वैचित्र्य अपनाना पड़ेगा, उसमें सजाई उपभोग की सारी वस्तुओं का रस चखना होगा। यही शौक है। यही इच्छा है।

शौक और किसी का नहीं, केवल शकुन्तला का। नित नये-नयेपन का आविष्कार करना ही उसका शौक, उसकी इच्छा।

हो भी क्यों न ? इस कदर अखण्ड सुविधा भी कितनों के हिस्से आती है ? एक बात और भी है। जीवन के पहले पच्चीस साल तो न जाने किस गड्ढे में पड़े-पड़े बीते। शादी के पहले भी, बाद में भी। कुछ कर गुजरने का अवसर तो छब्बीसवें वर्ष में ही मिला है। जीवन में प्राप्त होने वाले विभिन्न रसों का आस्वादन करने का मौका तो यही पहली बार मिला है। फिर क्यों न करे ? क्यों न चखे ? क्यों न देखे कि कितना सुख, कितना आनन्द मिल सकता है जीवन के पहलुओं को निचोड़ कर ? मौज-मस्ती में नया-पुराना क्या ? शकुन्तला के लिये सभी उपयोग्य है।

जिस शकुन्तला ने कभी 'हम दोनों' की छोटी-सी गृहस्थी का स्वप्न देखा था, अब उसी शकुन्तला की सुनहली रंग फैलाने वाली कूची इन्द्रधनुष के सातों रंगों से समृद्ध जीवन को देखने की दृष्टि प्राप्त कर चुकी है। अब उसे अनुभव होने लगा है

कि 'हम दोनों' की छोटी-सी गृहस्थी में एकरसता आती है। सिर्फ दो ही रहें तो एक दूसरे का सान्निध्य थकान और ऊब लाता है, सहज प्रेम की मादकता नहीं आती।

और फिर सिर्फ 'दो' की गृहस्थी में इतनी सुविधायें कैसे उपलब्ध होतीं ? सन्तोष की बँधी-बँधाई नौकरी। अवसर के क्षण भी बँधे-बँधाये। उन दिनों अवसर विनोदन का आयोजन नाप-नाप कर करना पड़ता। पराशर की नौकरी, स्कूल की छुट्टी जल्दी होती है। छुट्टियाँ अधिक मिलती हैं। उसे जब-तब घसीटा जा सकता है। इसे सन्तोष आपत्तिजनक नहीं मानता। कभी-कभार तीनों जाते। अवसर दो ही। कभी ऐसा भी होता कि यह दोनों इकट्ठे निकल पड़ते, सन्तोष दफ्तर का काम पूरा कर बाद में पहुँचता।

शुरू में पराशर अकेले शकुन्तला को कहीं ले जाने की जिम्मेदारी से कतराता था। बहाने बना इधर-उधर चला जाता। लेकिन उसकी यह बहानेबाजी टिकाऊ साबित न हो पायी। सन्तोष और शकुन्तला के सहज-सरल व्यवहार के आगे उसे अपनी सावधानता शर्मनाक महसूस होने लगी।

सारे व्यवधान मिट गये।

चार

आत्म-धिक्कार और विवेक-दंश से पीड़ित हो उस दिन दोपहर को, एक लम्बे अर्से के बाद पराशर लिखने बैठा था। बात यह हुई कि यहाँ आने से पहले उसने एक उपन्यास में हाथ लगाया था। आ जाने के बाद से उस पर कुछ भी काम नहीं हुआ था। छुट्टी का दिन था वह, इसलिये उसने सोचा कि आज कुछ काम करे।

आखिरकार, मेस छोड़ने का, यहाँ आकर रहने का मकसद क्या था उसका? यही न कि यहाँ के एकान्त में एकाग्र होकर लिखेगा, जो मेस की चहल-पहल में सम्भव नहीं हो पा रहा था। बहुत हो चुका, अब आगे इस तरह वक्त बर्बाद नहीं करेगा।

दो-तीन सफे मुश्किल से लिख पाया होगा कि दोपहर की निस्तब्धता टूटी। कमरे के बाहर दो-तीन नारी-स्वर सुनाई पड़े। एक स्वर प्रखर और परिचित। दूसरा मृदु और अपरिचित। अगले ही क्षण शकुन्तला ने कमरे में पाँव रखा।

'आ गई तपस्वी का तप-भंग करने।'

इस आक्रमण का सामना करने के लिये तैयार हो गया था पराशर। कलम बन्द करते हुये उसने कहा, 'जरूर कीजिये। इसका फल यही होगा कि पाठक-वर्ग एक महान्, अभिनव और अपूर्व उपन्यास के रसास्वादन के आनन्द के सर्वदा से लिये वंचित हो जायेंगे।'

'भला ऐसा क्यों?'

'इसलिये कि पिछले कुछ दिनों से सैर-सपाटे का जो दौर चल रहा है उससे यही प्रतीत होता है कि यह उपन्यास तो पूरा होने से रहा।'

रहस्यमयी शकुन्तला की मुस्कराहट में रहस्य झलका। बोली, 'उपन्यास तो जी, हर क्षण ही रचित हो रहा है।'

शकुन्तला खिलखिला पड़ी। उसकी हँसी की झंकार से पराशर का दिल काँप उठा। लेकिन क्षण भर में उसने अपने को सँभाला। द्वार के बाहर पग-ध्वनि सुनाई दे रही थी। इसलिये उसने जवाब दिया, 'उन उपन्यासों को छापेखाने में भेज पैसे नहीं जुटाये जा सकते।'

शकुन्तला भी सँभली। धीरे-धीरे बोली, 'उसका हिसाब तो फिर कभी कर लिया जायेगा। फिलहाल जरा 'लेखक-लेखक' मूड बना कर वैसे ही पोज में बैठिये।

आपके दर्शन करने को एक महिला आई हैं।...'क्यों री छवि....कहाँ गई तू ? लेखक देखने के लिये कब से जान खाये है मेरी, आ...।'

झेंपती-सहमती एक लड़की कमरे में आई।

देखने में अच्छी-भली, प्रतिभामयी, पर लज्जा से नम्र।

उस लड़की ने झुक कर पराशर को प्रणाम किया। इससे पराशर जहाँ चंचल और व्यस्त हुआ, उसे उठना पड़ा। कुर्सी बढ़ा 'बैठिये' भी कहना पड़ा।

कमरे में और कुर्सियाँ नहीं थीं, अतः शकुन्तला को खाट पर बैठना पड़ा। बैठते ही बोली, 'क्या कहने आपके लेखकजी ! इत्ती सी लड़की को 'आप' ! उसने तो इस बार मात्र स्कूल फाइनल की परीक्षा दी है। उसके मन में लेखक देखने की उत्कट अभिलाषा जागी है। समझे कुछ साहित्यकार जी ? जब से उसने सुना है कि मेरे भण्डार में एक भरा-पूरा साहित्यकार विचरण कर रहा है तब से मुझे हलकान किये डाल रही है कि मेरा भी परिचय करा दो। ले, अब तो दिखा दिया। कर ले बात-चीत।'

यह तो जाहिर ही है कि इस किस्म का फरमान जारी होने के बाद बातचीत का सिलसिला जम नहीं सकता। इसके अलावा उस लड़की की उम्र भी ऐसी नहीं कि बातचीत शुरू करने में माहिर हो वह। कृत-कृत्य भक्त की तरह लजा कर मुस्करा दी वह। वैसे, उसके चेहरे पर एक ऐसी सहजदीप्ति है कि लगता नहीं कि स्वभाव की वह शर्मीली है।

बिना पूर्व सूचना के इस तरह एक अपरिचिता को लेकर आने से पराशर के मन में जो थोड़ी-सी झुंझलाहट हुई उस पर ध्यान नहीं दिया उसने। और नहीं तो क्या ? स्कूल फाइनल में पढ़ने वाली लड़की, उससे क्या घबराना ? साड़ी बाँध कर आई है इस कारण कुछ बड़ी-बड़ी जरूर लग रही है, पर है तो असल में बालिका ही !

'वाह ! जोड़ी तो बराबर की है !' शकुन्तला ने व्यंग्य से कहा, 'गूंगे हो दोनों ही मानो।'

अब उस लड़की ने मुँह खोला। बोली, 'गूंगा होने के अलावा चारा ही क्या है भाभी ? आप हो तो मुँह खोलने की बिसात किसकी होती है ?'

'तो यह बात है ! बोली फूटने लगी बच्ची की। सुना साहित्यिक जी आपने, हमारी छवि आपकी ऐसी भक्त है कि उसे मेरे सौभाग्य पर ईर्ष्या होती है। कहती है काश मैं आपके घर की 'झी'* ही हो सकती !'

शर्म से उस लड़की का मुँह लाल हो जाता है। लज्जा की लालिमा से घिरने लगती है। मजाक-मजाक में लोग तो कितना कुछ कह देते हैं। उन बातों को भरी सभा में इस तरह खोल देना, केवल ग्राम्यता ही नहीं, अत्यन्त कुरुचि भी है।

---

* चलती बंगला भाषा में नौकरनी को 'झी' कहा जाता है। इसका एक दूसरा अर्थ है—कन्या।

उसके लाल होते मुख पर दृष्टि पड़ते ही पराशर सँभल गया। अब और झमेले में न आ कर बोला, 'कहा तो ठीक ही है। इस शब्द को इसके व्यापक अर्थ मे लिया है। यकीन मानिये, अगर इस घर मे इसकी जैसी एक छोटी-सी भी रहती तब मुझे बड़ा चैन मिलता।'

'आपको चैन मिलता ?'

'नही तो क्या ?' पराशर ने हँस कर कहा, 'अपनी बेटी घर में होती तो आपकी तरह दुर्दान्त प्रकृति की पराई बेटी का मुंह न जोहना पड़ता। क्या नाम है तुम्हारा, बताया नही तुमने ?'

गर्दन उठा कर स्पष्ट स्वर मे वह बोली, 'जी, मेरा नाम अनिन्दिता है। लेकिन इस नाम का इस्तेमाल नही के बराबर होता है। मुझे लोग छवि कहते हैं।'

उसकी बातें सुन कर पराशर को लगा कि उसके अब-तक के आचरण से वह जितनी शर्मीली लग रही थी, असलियत में उतनी शर्मीली वह है नही। वाक् कला में काफी पटुता है उसमे। इधर शकुन्तला ने सोचा, वाह री छोकरी, लेखक देखते ही बातचीत करने का तरीका बदल गया। यह अनिन्दित का पचड़ा क्या ले बैठी! सीधे से कहा नही जाता कि छवि नाम है मेरा। यह अनिन्दिता नाम तो मैंने कभी सुना ही नहीं था।

'किस स्कूल मे पढ़ती थी तुम ?'

'पढ़ती थी? ओह! हाँ! जी, सुभाषिणी स्मृति बालिका विद्यालय में। इधर इससे अच्छा कोई स्कूल है नही। जो हैं वे इतनी दूर हैं कि वहाँ पढ़ने का सवाल ही नहीं उठता।'

'आगे पढ़ोगी न ?'

बेकार सवाल है। मगर इतनी-सी लड़की से और किस तरह की बात की भी क्या जा सकती है ?

छवि ने मुसकरा कर कहा, 'क्या पता? रिजल्ट पहले आये। फिर पिताजी के राजी होने का प्रश्न भी तो है न! माँ अक्सर बीमार रहती हैं। छोटे भाई-बहनों को देखना पड़ता है मुझे।'

सुन कर पराशर को लगा—कितने सरल स्वभाव की है।

शकुन्तला को लगा—अरे वाह! महा बातूनी है यह छोकरी! कैसा बना-बना कर बोल रही है, देखो!

उस वक्त शकुन्तला को यह एक बार भी ख्याल न आया कि मुहल्ले की महिला-वाहिनी मे इतनी सारी होते हुये भी उसने इसी को जान-पहचान बढ़ाने के लिये सिर्फ इसीलिये चुना था कि उसके बोलने का तरीका मनोहर है। निःसंकोच सरलता से अपनी बात स्पष्ट कहने से वह कभी नहीं पिछड़ती। आयु में समता न होने पर भी छवि ने जो शकुन्तला से मित्रता की है उसका कारण मगर यही है कि उसने सुना है, शकुन्तला के घर में उसके प्रिय लेखक पराशर राय रहते हैं।

इधर-उधर की दो-चार बातों के बाद ही छवि ने आने का उद्देश्य व्यक्त किया। आटोग्राफ लेना है उसे। मखमल से मढ़ी एक सुन्दर कापी निकाल कर सामने रखी उसने।

'आटोग्राफ ? आटोग्राफ चाहिये तुझे ?' शकुन्तला की कुढ़न स्वर की कटुता में झलकी, 'कहा तो नहीं था तूने कि आटोग्राफ लेना है तुझे ?'

छवि बोली नहीं, सिर्फ मुस्कराई।

आटोग्राफ की कापी ले पराशर उसके पन्ने उलटने लगा। यह तो मात्र छल था। उद्देश्य था अपनी बिखरी भावनाओं को समेट कर समयोचित कोई बात सोचना जो वह उस कापी मे लिखेगा।

उत्सुकता से छवि बोली, 'कोई खू—ब बढ़िया चीज लिखियेगा, अच्छा।'

शकुन्तला ने सोचा—कुर्बान जाऊँ इसके नखरों पर।

पराशर के लिये छवि की फरमायश न तो नई, न अपरिचित थी। उसे इसका सामना अक्सर यहाँ-वहाँ करना पड़ता है। इसलिये उसने छवि से कहा, 'बढ़िया-घटिया आर्डर से तो बनता नहीं। जो ऊपरवाले की मर्जी है वह आता है कलम की नोंक पर।'

'आप चाहेंगे तो बढ़िया चीज अवश्य ही आयेगी।'

'यह ख्याल गलत है।' कहते हुये पराशर ने दो लाइन लिख कर छवि को उसकी कापी वापस कर दी। छवि उसे ले पावे इसके पहले ही शकुन्तला ने झपट लिया उसे।

'आह ! हा ! हमारे साहित्यिक जी कविता भी कर लेते हैं ! मेरा ख्याल था कि इनकी सीमा गद्य तक ही है।'

'आप ऐसा क्यों नहीं सोचेंगी। इतने दिन हो गये मुझे यहाँ, लाई थी कभी आप अपनी आटोग्राफ बुक ? दी होती आपने तो देखती, कैसी कविता लिख देता।'

'जरूरत नहीं मुझे आपके कवित्व की। आपसे मैं आगे से अपने ग्वाले का हिसाब लिखवाया करूँगी।' अपने ही मजाक पर इतनी मस्त हुई शकुन्तला कि मारे हँसी के खाट पर लोटने लगी।

यह क्या ? अप्रत्याशित था उसका यह उच्छ्वास ! मगर क्यों कर रही है ऐसा वह ? इस छोटी सी लड़की के सामने ऐसा क्यों कर रही है शकुन्तला ? क्या मुझ पर अपने आधिपत्य का विस्तार जताने के लिये ? मनोवैज्ञानिक साहित्यिक पराशर राय सचेत और चिन्तित होता है।

अपने आटोग्राफ बुक के पन्ने पर पराशर की लिखी पंक्तियाँ पढ़ती है छवि। उसका स्मित मुख मुस्कान से आलोकित होता है :

'चित्र और गुड़ियों के दिन पूरे हो गये,
नई दुनिया रही है पुकार।
वहीं रखो अपने चरण चिन्ह,

मुड़ कर मत देखो कि आज भी चित्र बनाने में मगन है कौन।'

'आपका हस्ताक्षर कितना सुन्दर है!'

'होश में आ। नहीं तो कहीं पूरा आदमी ही सुन्दर न लगने लगे तुझे।' कहती शकुन्तला फिर बेशर्म-सी खी-खी करने लगी।

शकुन्तला का यह रूप पराशर ने पहले कभी न देखा था।

छवि उसे प्रिय है, उसे अक्सर बुलाती है, सहृदय है उसके प्रति शकुन्तला का व्यवहार, लेकिन आयु के अन्तर को कभी नहीं भूलती। ऐसा खुला मज़ाक कभी नहीं करती उसके साथ। क्या बात हो गई? क्या छवि का यहाँ आना उसे अच्छा नहीं लगा?

यह तो सच है कि छवि पराशर से मिलने के लिये व्याकुल थी। मगर मिलाने के लिये क्या शकुन्तला कम व्याकुल थी? तो फिर?

छवि फिर ज्यादा रुकी नहीं। किचन के पीछे शकुन्तला के बगीचे से जाया जाये तो उसका घर बहुत पास हो जाता है। उसे उधर से पहुँचा कर पिछवाड़े का दरवाजा बन्द कर शकुन्तला अपने कमरे में आई। कुछ देर चुपचाप बैठी रही। फिर झटके से उठ, दराज खोल अपनी गाने लिखी कापी निकाली। वह कापी जिसे उसने सालों से सँजो कर रखा था।

'लिख दीजिये कविता।'

शकुन्तला ने कापी इतने जोरों से मेज़ पर पटकी कि पराशर चौंक उठा। छवि के जाते वक्त ही पराशर ने सोचा था कि शकुन्तला फिर आयेगी। जब साथ ही साथ नहीं आई, तब निश्चिन्त होकर फिर लिखने लगा था। लिखने लगा ही नहीं था, उपन्यास में डूब गया था। उसकी ध्यानमग्न चेतना पर शकुन्तला का शाब्दिक आक्रमण हुआ।

आश्चर्य से एक बार कापी और एक बार कापी की मालकिन को देख कर उसने प्रश्न किया, 'क्या लिखूँ?'

'कविता। मैंने सोच कर देखा, एक आटोग्राफ मेरे पास रहेगा तो अच्छा ही होगा।'

अद्भुत दीप्ति से उज्ज्वल शकुन्तला की दृष्टि। अपूर्वदृष्ट उज्ज्वलता से प्रदीप्त उसका मुख। यह दृष्टि, यह मुख देख कर पराशर डर गया। कई बार उसने इस दीप्ति, इस उज्ज्वला को क्षण भर के लिये कौंधते देखा है शकुन्तला के मुख पर, और सन्देह डोल गया है उसके मन में। यह तो उसी क्षणिक आभा का स्थिर रूप है।

एकाग्र हो लिख रहा था पराशर।

सुबह, शाम, रात।

इनके बीच कहीं पर, मालूम नहीं कहाँ एक अदृश्य लक्ष्मण-रेखा बनी है।

अदृश्य तो है, पर उसका अतिक्रमण नहीं किया जा सकता। इसी कारण सुबह-शाम मनुष्य एक स्वस्थ सामाजिक जीव है।

लेकिन मध्य दिन और मध्य रात्रि ?

इनके लिये कोई लक्ष्मण-रेखा नहीं। उनके किनारे-किनारे गहरे खड्ड है, क्षणिक असतर्कता मनुष्य को उनकी गहराई में ले पटक सकता है। लगता है दोपहर मध्य-रात्रि से भी भयानक है।

निर्जन रात्रि भयावह है। सर्वनाशा भी। फिर भी वह कम भयावह है, क्योंकि सर्वनाश का संकेत वह अपने साथ रखती थी। बुद्धिमान व्यक्ति इस तथ्य को जानता है, अतः विपद् संकेत पढ़ कर सावधान हो सकता है। पर धूप से उज्ज्वल निर्जन दोपहर के साथ कोई ऐसी संकेत-वाणी नहीं है, इस कारण वह और भी भयानक है।

जरा भी असावधान हुये कि यह निर्जन दोपहरी तुम्हें ऐसा गिरायेगी कि फिर बच निकलने का कोई उपाय ही न रहेगा।'

इतना लिख कर पराशर जब कलम में स्याही भर रहा था, तभी आई शकुन्तला। हाथ में कापी। मुख पर, आँखों में एक अपरिचित प्रकाश की उज्ज्वलता और मोहक दीप्ति लिये।

पराशर ने आँखें नीची कर लीं।

कलम की निब पोंछ, ढक्कन लगाया। इस अर्से में अपने को शान्त किया। कहा, 'कापी तो देखने पर ग्वाले की हिसाब लिखने वाली कापी नहीं लगती।'

'क्या कह रहे हैं आप ? यह ग्वाले की कापी क्यों होने लगी ? यह तो मेरी गानों की कापी है।'

कापी पर नज़र जमाये पराशर ने कहा, 'लेकिन मुझे तो ग्वाले का हिसाब लिखने का हुक्म था।'

'ओह ! यह बात !' शकुन्तला फिर हँसी। 'फिक्र क्यों करते हैं ? वह भी हो जायेगा अपने वक्त पर। फिलहाल कविता लिखिये।'

पराशर ने दृष्टि उठाई। भरपूर निगाह से शकुन्तला को देखता स्पष्ट शब्दो मे उसने कहा, 'ऐसा कौन सा कानून है कि जिससे, जब जो माँगा जाये वही मिलता रहे ?'

शकुन्तला के पाँव-तले की धरती हिलने लगी।

झिझकती हुई बोली, 'लिखेंगे तो मेरी कापी में छोटी-सी कविता। इसमें कानून की धारा कहाँ से आ गई ?'

'कापी पर ? ओह ! ठीक है। छोड़ जाइये, लिख दूँगा किसी वक्त।'

'नहीं, अभी दीजिये।'

'जल्दी क्या है ?' सन्तुलित हो पराशर ने धीरे से कहा, 'आप कहीं जा तो रही नहीं हैं।'

झपट कर कापी उठा ली शकुन्तला ने। 'तो यह बात है? आपके पास उसी के लिये इज्जत है जो जाने वाला है। लेकिन मैं भी आपको बताये देती हूँ, छवि और जो हो, जाने वाली नहीं। एक बार जब आई है तब देखियेगा, जब-तब आकर आपको तंग करेगी।'

'छवि? छवि कहाँ से आ गई इसमें?' अचकचा कर बोला पराशर।

'जाइये, जाइये। बहुत देखा है। ज्यादा भोले मत बनिये। इतना जाने रहियेगा कि स्कूल फाइनल दिया है तो क्या, वह आम स्कूल फाइनल देने वालों के बराबरी की नहीं। दो-तीन साल ड्राप करने के बाद इस बार प्राइवेट में परीक्षा दी है उसने।'

यह कैसी बात? अभी यही शकुन्तला न कह रही थी इत्ती-सी लड़की, आप इसे 'आप' क्यों कह रहे हैं?

आँखें शकुन्तला के मुख पर स्थापित कर पराशर ने गम्भीर हो कर कहा, 'आपकी बातें सुन कर लग रहा है कि मैं उस लड़की का इतिहास सुनने को व्याकुल हूँ।'

मुस्कराई शकुन्तला। बोली, 'बाकी दुनिया क्या जाने, कौन किस चीज के लिये व्याकुल है।⋯खैर। जो भी हो, अब मैं जाऊँ। बहुत वक्त जाया किया आपका। शान्ति से लिखिये।'

'लेकिन यह क्या? कापी ले क्यों जा रही हैं आप? छोड़ जाइये।'

'नहीं!'

'नहीं? क्या मतलब नहीं से?'

'मतलब, नहीं।'

'मतलब, लड़ाई जारी रखना चाह रही हैं?'

'लड़ाई किस बात की?'

'जो लड़ाई ऐसी बेबात की होती है वही बड़ी डरावनी होती है। अगर आप कापी छोड़ जायेंगी तो मैं जानूँगा मेरी आशंका का कोई कारण नहीं।'

शकुन्तला चलने को हुई थी। धम्म से बैठती हुई बोली, 'मैंने सोच कर पाया कि कविता की जरूरत नहीं। दो लाइन की कविता का होगा भी क्या?'

'दो लाइन? दो लाइन की हो ऐसी भी कोई बात है? यह भी तो हो सकता है कि सोच-विचार कर खूब बड़ी-सी कविता लिख दूँगा।'

शकुन्तला फिर उठ खड़ी हुई। मेज के एक कोने को मुट्ठी में भरती हुई उदास-टूटी आवाज में बोली, 'कितनी भी लम्बी हो, किसी न किसी सफे पर खत्म तो होगी ही।'

पराशर को काठ मार गया। बड़ी कठिनाई से सन्तुलित हो कर उसने कहा, 'जो चीज सही अर्थों में बड़ी होती है, वह कभी खत्म नहीं होती शकुन्तला जी।'

शकुन्तला चली गई। बहुत देर तक—पता नहीं, कितनी देर तक बुत बना बैठा रहा पराशर!

छवि जैसी नन्ही-सी लड़की को उपलक्ष बना यह क्या हो गया?

अच्छा, शकुन्तला उसको यहाँ लाई ही क्यों? क्या उसने इतना आना चाहा था कि शकुन्तला लाने को मजबूर हुई? या इसलिये कि किसी तीसरे को अपना ऐश्वर्य दिखाने का लोभ वह न संभाल सकी? ऐश्वर्य नहीं तो क्या? शकुन्तला यही न कहना चाहती थी कि तुम्हें जिसके दर्शनों के लाले पड़े हैं उस पर मेरा कितना आधिपत्य है, देखो। यही न?

मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार पराशर राय इसी प्रकार आज की घटना की तह तक पहुँचने का प्रयास करता रहा। इसी विश्लेषण द्वारा वह आदि अकृत्रिम सत्य तक पहुँचना चाहता है। पर····।

जितनी बार प्रयास करता है वह, उतनी ही बार उसकी सुनिश्चित चिन्ता की डोर टूट जाती है। बार-बार सवाल उठता है मन में, कौन-सा तेल डालती है शकुन्तला बालों में? यहाँ से उसके जाने के बाद भी तेल की सुगन्ध भरी रहती है कमरे में!

शकुन्तला के केश-तैल की सुगन्ध शरद ऋतु के उस उन्मन मध्याह्न की हवा के हिलोरों के साथ बुत बने-बैठे उस व्यक्ति से आँख मिचौनी खेलती रहती है। उन्मन मध्याह्न की उन्मन वायु के हिलोरों से फरफरा कर उड़ते हैं, खुली कापी के पन्ने। दो-चार पन्ने कापी से अलग हो फर्श पर जा गिरे। उन्हें उठाने की इच्छा भी लोप हो गई थी पराशर के मन से। क्या इसके बाद भी और आगे भी पराशर यहाँ रहेगा?

शाम को सन्तोष दफ्तर से लौट कर जब दोस्त के कमरे में गपशप के इरादे से आया था, तभी शकुन्तला ने आकर पूछा कि क्या वे लोग उस वक्त रात का खाना खा लेंगे?

सन्तोष ने विस्मय से पूछा, 'इतनी जल्दी खाना बन गया?'

'बनता क्यों न?'

'वाह! बड़ी अच्छी बात है। बड़े काम की हो तुम। लेकिन खाना जल्दी बन जाने का यह तो मतलब नहीं कि हम खा भी लें जल्दी-जल्दी। बल्कि एक काम करो न, किचन बन्द कर यहीं आ जाओ, खूब जोरदार जलसा हो जाये।'

'हर वक्त इनकी बातों में लगा काम का नुकसान करना ठीक नहीं।'

सन्तोष एकबारगी चौकन्ना होकर कहता है, 'हाँ-हाँ, यह तो ठीक कहती हो। मेरी ही गलती है। असल में दिन भर काम की चक्की में बैल की तरह बँधा रहने के कारण शाम की इस मजलिस के लिये मेरी आत्मा तड़पती रहती है। ठीक है, चलो

चलता हूँ। मगर इस बेचारे को इतनी जल्दी बिना भूख के खाना खिला देना भी ठीक नही। चलो हम चलें। यह लिखता रहे।'

अब पराशर ने चुटकी ली, 'तुम दोनों की बातो से लग रहा है कि मैं हाड़-मांस का मानुस नही, मिट्टी का पुतला हूँ। मेरी इच्छा-अनिच्छा मेरी नही, तुम्हारी समस्या है।'

लाल होकर शकुन्तला ने कहा, 'मिट्टी के पुतले आप क्यों होने लगे? वह तो अनादि काल से हमारा अधिकार है।'

एक बार पत्नी और एक बार मित्र की ओर हकबका कर देखा सन्तोष ने। फिर कहा, 'तुम दोनो हर वक्त पहेलियाँ क्यों बुझाते रहते हो जी? पराशर की बात तो जैसे-तैसे समझ भी ली, मगर कुन्तल, तुम्हारी मिट्टी की पुतली बनने की बात मेरे पल्ले नही पड़ी। समझा कर बोलो न?'

'*हर बात को अगर हर आदमी समझ लेता तब तो दुनिया में कोई समस्या* बची ही न रहती। पर यह छोड़ो। बताओ, खाओगे अभी या नही? मुझे नीद लगी है।'

'नीद लगी है?' सन्तोष चिन्तित हुआ, 'तबीयत तो ठीक है न?'

'बहुत ज़ोर-शोर से ठीक है।'

उस रात खाने की मेज का परिवेश फीका ही रहा। शकुन्तला खोई-खोई सी। पराशर चिन्तित। सन्तोष बेचारा अकेले कितना सँभाले।

खाना खा चुकने के बाद अगर वह सीधे अपने कमरे में चला जाता है तो वह देखने मे अच्छा नही लगता, यह सोच सन्तोष पराशर के कमरे मे गया। पराशर की चिन्तित मुद्रा देख उसने कहा, 'आज लेखक-प्रवर चिन्तातुर हैं, लगता है। ठीक है। आराम करो। मैं चला। यह बताओ, क्यों इतने चिन्तित हो? क्या कोई नया प्लाट दिमाग में आया है?

'नया तो नही', पराशर ने क्लिष्ट हो कर कहा, 'बस आदिकाल से चला आ रहा पुराना वाला....'

'मतलब? प्रेम-प्रीति?'

'*जो भी कहो।*'

'अगर ऐसी ही बात है, तो यह हल्की बत्ती जलाये चुपचाप बैठा क्यों है? लिखने का इरादा नही है क्या? आज लिखेगा या रात भर सोचता ही रहेगा?'

'शायद अब आज लिख न सकूँ। लगता है आज की रात सोचते-सोचते में ही बीतेगी। क्या बताऊँ तुझे, चिन्ताओं का कैसा बवण्डर मचा है मेरे दिमाग में।'

'फिर भी तो ऐ बालक, अभी तक तुमने गृहस्थी के भँवर में पाँव नही रखा है। अब मुझे ही देखो, कितनी किस्म की चिन्ताओ से घिरा हूँ। अभी जाकर देखना

पड़ेगा कि अर्धांगिनी को कौन सी पीड़ा सता रही है। दर्द उनके सिर में है, या पेट में, या कहीं और। यह जो उन्हें इतनी जल्दी नींद लगी है, यही तो तूफान का संकेत है।'

पराशर ने कहा, 'उनका परिश्रम जो तुमने बढ़ा दिया है, लगता है, इसी से बीमार हो गई हैं।'

'परिश्रम बढ़ाया मैंने ?'

'नहीं तो क्या ? मेरे कारण उन्हें पहले से अधिक काम नहीं करना पड़ रहा है ?'

'अरे नहीं यार ! ऐसा तू सपने में भी मत सोचा कर। आखिर कौन सा काम बढ़ा है ? हमारे लिये जो होता था वही अभी भी हो रहा है, तेरे लिये तो भी खास इन्तजाम नहीं।' इतना कुछ कह डालने पर सन्तोष ने साँस लिया। मजाक करने का मन हुआ उसका। कहने लगा, 'मैंने देखा है, अगर तेरे लिये काम कुछ बढ़ा भी है तो उसे कर पाने में खुशी होती है उसे""।'

शकुन्तला वहाँ नहीं थी।

कमरे में फैलती हल्की नीली, रोशनी का एक फायदा यह था कि वे एक दूसरे की शक्लों पर आते-जाते भावों को साफ देख नहीं पा रहे थे। नीम अन्धेरे के कारण बात करना आसान हो रहा था। दोस्त की बात के जवाब में कहा, 'अबे गदहे के अवतार, इतना ही दिखाई पड़ रहा है तुझे ? और कुछ नहीं दीखता ?'

'और कुछ ? कैसा और कुछ !'

'अबे, यह जो तू नहर काट मगर घर लाया है सोचा है, कभी इसका अंजाम क्या हो सकता है ? अभी भी कुछ अक्ल बाकी हो तो मेरी मान, अभी कुछ बिगड़ा नहीं, मगर को अपनी जगह जाने दे।'

'तेरी इस पहेली का साफ-साफ अर्थ क्या है पराशर ?'

'अर्थ समझना खड़े-खड़े नहीं होगा। बैठ जा, समझा देता हूँ।'

'मैं आराम से हूँ, तू बता न।'

'बताता हूँ। मुझे अपने किचन में शामिल कर तू बेफिक्र घूम रहा है, क्यों, ठीक है न ? मान ले, तेरी बीबी के हाथ का खाना खाते-खाते अगर मोहित हो मैं उससे मुहब्बत करने लग जाऊँ तो ?'

'धत् तेरे ! यह तो सिर्फ मजाक है !'

सन्तोष के ठहाकों से कमरा झन-झना उठा। कहकहों के बीच उसने कहा, 'तब तो यार कहना ही क्या ! बढ़िया खाना बनाने के लिये मैं अपनी बीबी को सोने का मेडेल ही दे डालूँगा।'

'देख सन्तोष, इतनी बेफिक्री ठीक नहीं। यह तो मूर्खता का एक और रूप मात्र है।'

सन्तोष का दिल धक् रह गया।

अगर नहीं, तो अब तक खड़ा था जो सन्तोष, वह इस वक्त 'ठीक है' कहता

हुआ बैठा क्यों कुर्सी पर ! फिर भी, इस किस्म की परिस्थिति का सामना करते हुये भी उसने जरा भी परेशानी चेहरे पर आने नही दी । कुर्सी पर बैठ उसने शान्ति से कहा, 'देख भाई, चालाक मुझे किसी ने नही कहा ।'

'न भी कहा हो तो क्या ? शास्त्र की बात हमें जरूर माननी चाहिये । शास्त्र ने निर्देश दिया है कि सुन्दर तथा यौवनवती भार्या को सर्वदा सुरक्षित रखा करो । अब यही देख, सामने पूजा की छुट्टी है । तेरी छुट्टी तीन दिन की होगी और मेरा स्कूल एक महीना तेरह दिन बन्द रहेगा । मुझे तो अभी से यह चिन्ता खाये जा रही है कि इस अखण्ड अवकाश का फायदा उठा अगर मैं तेरी बीबी से मुहब्बत करने लग जाऊँ तब क्या होगा ?'

पराशर की बात सुन हँसे बिना नही रहा जाता सन्तोष से । ठहाके पर ठहाका लगाता है वह । हँसते-हँसते आँसू निकल आते हैं । आंख पोछ कर वह कहता है, 'क्या बताऊँ यार, जब कभी यह ख्याल आता है कि कोई और आदमी मेरी बीबी का आशिक हो गया है तो मुझे बड़ा मजा आता है ।'

'यह बात ?'

'सच बताता हूँ पराशर । पहले, यानी जब वह गाँव मे रहती थी, तब इस बात पर हम अक्सर बात करते थे । वह यहाँ आने के लिये अनेक तर्क देती थी । उनमें एक तर्क यह भी था । कहती, यह जो तुम मुझे यहाँ लावारिस सामान की तरह छोड़ गये हो, सोचा है कभी क्या हो सकता है ? अगर कभी ऐसा हो कि गाँव के सारे जवान मुझसे प्रेम करने लगे हैं, तब मुझे दोषी मत ठहराना ।'

'सच ? तो डर नहीं लगता था तुम्हे ?'

'नही । तूने देखा तो है कितनी बातूनी है वह । कहा करती थी, मेरी जैसी अतुलनीया रूपवती को देख कितने लोग अपना दिमाग ठीक रख सकते हैं ?'

पत्नी-प्रेम में सराबोर मुग्ध सन्तोष पत्नी की वाक्-पटुता का बखान करते न अघाता । बोलता जाता, हँसता जाता । उसने कहा, 'मैं उससे कहता—दूसरों का दिमाग फिरे तो फिर जाये । तुम्हारा दिमाग तो सही जगह पर ही रहेगा । जब तक ऐसा है तब तक फिरे न औरों का दिमाग । क्या फर्क पड़ता है ? बल्कि, मुझे तो खुशी है, गर्व है । तुम्ही बताओ, सारी दुनिया को निःशंक हो अपना ऐश्वर्य दिखाते फिरने में कितनी तृप्ति है ।'

संजीदा हो कर पराशर ने पूछा, 'ऐसी क्या गारंटी है कि इनका दिमाग कभी नही फिरेगा ?'

परम निश्चिन्तता से सिर हिलाते हुये सन्तोष ने कहा, 'है जी, है । सौ फी सदी गारंटी है ।'

'इतना आत्मविश्वास ठीक नही रे सन्तोष । पुराने जमाने के चिन्ताशील बूढ़ों का कैलकुलेशन इतना गलत नहीं था । उनकी घी और आग वाली थियोरी फालतू कह कर उड़ा नही सकता तू ।'

जवाब में सन्तोष कुछ कहने ही वाला था कि शकुन्तला कमरे में आई। उसके हाथ में पानी का गिलास था।

'पानी रख देती हूँ।'

इस बेमतलब की बात को कह जैसे आई थी वैसे ही लौट गई वह। बातों का जो सिलसिला चल रहा था उसे भूल कर सन्तोष अचकचा कर उठ खड़ा हुआ। कहा, 'आज कुन्तल की तबीयत जरूर खराब होगी, नहीं तो इस तरह—अच्छा चलूँ। जाऊँ, देखूँ क्या हो गया उसे। बड़ी बत्ती जला दूँ?'

'बड़ी बत्ती? अच्छा जलाओ। कुछ काम ही करूँ।'

रोशनी से जगमगा उठा कमरा।

प्रेस से आया हुआ प्रूफों का बण्डल लेकर बैठा पराशर। सृजन का काम अभी करने का मूड नहीं बनेगा, इसलिये प्रूफ देखना जैसा बेमतलब और उबाऊ काम करना ही ठीक रहेगा।

जल्दी भी है। आज छापेखाना वाला स्कूल में तकाजा करने गया था। कल ही उन्हें यह प्रूफ चाहिये।

रात गहराती रही। काम बढ़ता रहा।

उज्ज्वल श्वेत रोशनी में। स्वप्नलोक का आवेश फैलाने वाली नीली रोशनी की अब जरूरत नहीं।

नीली रोशनी शकुन्तला के कमरे में भी नहीं थी। वहाँ तो न नीली न उजली, कोई रोशनी न थी। था निपट गहरा अन्धेरा। बत्ती की स्विच पर उँगली रख सन्तोष ने फिर जाने क्या सोच फौरन बुझा दिया। कहा, 'तुमने मेरी बात पर ध्यान नहीं दिया, मगर आज तुम्हारी तबीयत अवश्य ही खराब है।'

'क्यों?' छुरी की धार सा तेज था शकुन्तला का स्वर, 'तबीयत खराब होने लायक क्या देखा तुमने?'

'नहीं, मतलब, पता नहीं कैसी सी लग रही हो।'

'कैसी?'

'आफत है! इतनी-सी बात पर इतना तेज क्यों हो रही हो? बुरा मानने लायक क्या कहा मैंने? और दिन जैसे रहती हो, हँसती हो, बोलती-बतियाती हो, आज उसके विपरीत देख रहा हूँ····।'

'क्या यह जरूरी है कि रोज-रोज हँसने या बोलने-बतियाने की इच्छा होगी हरेक को?'

घबरा कर चुप हो जाता है सन्तोष। सोचते-सोचते थाह मिलती है उसे। अवश्य ही, हाँ अवश्य ही बिल्टू की याद आ रही है कुन्तल को। हो-न-हो, यही बात है। और हो भी क्यों न? जितना भी बहादुर बने, माँ है वह। बिल्टू उसका बेटा है!

कुछ देर चुप रहने के बाद कोमलता से कहता है, 'बिल्टू को बुलवा लूँ ?'

बिल्टू ! अरे वाह ! शकुन्तला तो भूल ही गई थी कि बिल्टू नाम का कोई है उसका !

जान में जैसे उसकी जान आई ।

उदास होने का, संजीदा रहने का, बेमतलब रो-रोकर बेहाल होने के लिये तो उसके पास काफी ठोस मसाला है । ताज्जुब है, उसे एक बार भी ख्याल नहीं आया ।

कोई बात नहीं, याद जब आ ही गई, क्यों न इसका भरपूर फायदा उठा, तकिये मे मुँह छिपा, जी भर कर रोया जाये ?

रोने का क्या कारण है ?

क्या कमी है कारणों की ?

सन्तोष इतना अच्छा क्यों है, क्या रोने के लिये यही पर्याप्त कारण नहीं है ?

सुबह खा-पीकर दोनो व्यक्ति अपने-अपने काम पर जा चुके थे ।

किचन के पीछे बने अपने उस प्रसिद्ध बगीचे के सामने बैठी थी शकुन्तला । चुपचाप, उदास-उदास ।

किसी की परछाईं आई करीब ।

छवि ।

शकुन्तला की अन्यमनस्क शिथिलता में कठोरता आई । बोली नहीं, दृष्टि में जिज्ञासा भर देखती रही छवि को ।

हो सकता है छवि ने इस परिवर्तन पर ध्यान न दिया हो । फिर भी, भाभी की चुप्पी से वह अचकचाई होगी । हिचकती हुई बोली, 'पराशर बाबू घर मे नहीं हैं भाभी ?'

'क्यों, क्या काम है ?' जवाब न दे शकुन्तला ने एक प्रश्न दाग दिया ।

शकुन्तला के स्वर की कठोरता से छवि चौंकी । फिर, संजीदा होकर बोली, 'हमारे जैसे लोगो का काम बहुत साधारण होता है भाभी ।'

व्यंग्य से सिकुड़ गये शकुन्तला के होंठ । भौंहें तन गईं । होठों पर कटु मुस्कराहट आई । बोली, 'हाँ रे छवि, जानती हूँ, व्यक्ति विशेष के मामले में यह साधारण ही असाधारण हो उठता है ।'

छवि ने इसका जवाब न दिया । एक और आटोग्राफ-बुक निकाल कर छवि के पास रखती हुई बोली, मेरी एक ममेरी बहन है । मेरी कापी में उनकी कविता देख उसने मुझसे बार-बार कहा है । किताब आपके पास छोड़ जाती हूँ । हो सके तो पराशर बाबू से इस पर दस्तखत करवा लीजियेगा ।'

'सिर्फ दस्तखत ? कविता नहीं ?'

अब कठोर होकर छवि बोली, 'आटोग्राफ लेना आपने कभी देखा नहीं क्या भाभी ?'

'मतलब ?'

'मतलब कुछ भी नहीं, यों ही कहा ?'

खड़ी होकर शकुन्तला ने कहा, 'कापी मेरे पास रखने की जरूरत नहीं। जो करना है तुम खुद ही करना।'

'अच्छी बात है ?' कह कर छवि ने शकुन्तला को ताज्जुब मे डाल कापी उठाई और चली गई।

छवि चली गई। उसके जाने के बाद भी काफी देर तक उसका जाना देखती रही वह। धिक्कार की लहर-पर-लहर उठने लगी, उसके मन में। उसे लगा, उसने छवि के सामने अपने को बहुत ही गिरा लिया है।

मगर क्यों ? अचानक छवि के प्रति उसके मन में यह प्रतिपक्षता कहाँ से आई ? क्यों आई ? छवि तो अक्सर आती है। 'सन्तोषदा' 'सन्तोषदा' करती, सन्तोष के आगे-पीछे फिरती, हँसती-बोलती रहती है। तब तो उसके मन में कभी ऐसी भावना नहीं जागी। ऐसी इच्छा भी न हुई कि उठ कर देखे, या उनकी बातें सुने। उसे तो छवि निहायत बच्ची ही लगती थी तब। तो फिर अब ऐसा क्यों ?

लेकिन सन्तोष से बात करने वाली छवि और यह छवि एक है ? एक-सी है ?

अपने इस सवाल का कोई जवाब शकुन्तला को न मिला। वह तय न कर पाई कि छवि तब कैसी थी, और अब उसमे कौन-सा बदलाव आ गया है। लेकिन एक बात उसके मन में बार-बार उठने लगी, जो भी हो, छवि अब वह छवि नहीं। अब तक उसकी गिनती मनुष्य में करने की जरूरत नहीं थी, पर अब उसकी अवहेलना नहीं की जा सकती।

लेकिन शकुन्तला को इससे भी क्या फर्क पड़ता है ?

१

'कलकत्ता आविष्कार की हमारी योजना के अभियान अचानक रद्द क्यो कर दिये गये ?' एक शाम खाने की मेज पर सन्तोष ने कहा। उसने सोच-विचार के बाद ही यह प्रसंग छेड़ा। इधर शकुन्तला बिल्टू के लिये जो हर वक्त उदास और खोयी सी रहती है, हो सकता है थोड़ा घूमने-फिरने पर उसकी उदासी दूर हो।'

लेकिन कोई जवाब नहीं दिया किसी ने।

'क्यों भाई, मेरी बात का जवाब नहीं दिया किसी ने ?' सन्तोष ने फिर उभाड़ा।

इस पर पराशर ने हँस कर कहा, 'अभी सोच रहा हूँ कि कौन-सा हिस्सा अभी अनाविष्कृत रह गया है। हमने तो अपने विभिन्न अभियानों द्वारा करीब-करीब सारा ही देख डाला है।'

'व्यर्थ की बात है। ऐसा किस शास्त्र में लिखा है कि एक जगह दो बार नहीं

जाया जा सकता ? ऐसा भी हो सकता है कि पहले अभियान में काफी कुछ छूट गया हो जिसका आविष्कार दूसरे अभियान में ही हो सकता है।'

शकुन्तला को कनखी से देख कहता चला, 'और फिर कभी पुराना न होने वाला सिनेमा तो है ही। वह तो कभी पुराना नहीं हो सकता ! क्या इरादा है ? चलोगी ?'

शकुन्तला ने बड़ी गम्भीरता से कहा, 'कितनी बार कह चुकी हूँ तुमसे, तुम मानते क्यों नही ? कितना अत्याचार करोगे और पराशर जी पर ? उनके लिखने का सारा वक्त ही हमारे कारण जाया हो रहा है।'

आज सन्तोष रुकता नही। दुगने जोश से कहता है, 'प्रतिभा अपनी राह आप निकालती आगे बढ़ती है। हमारे इस तुच्छ अत्याचार से इसका कुछ नुकसान नहीं होने का।'

दोस्त के जोश पर पानी डालते हुये पराशर ने कहा, 'यह किसने कहा कि नुकसान नही हो रहा है ? बहुत अधिक नुकसान हो रहा है मेरा। मुझे तो अब लग रहा है कि लेखन को बचाने के लिये तुम्हारे इस जेलखाने से भागना ही पड़ेगा मुझे।'

सन्तोष चिन्तित हो कर कहता है, 'तुझे सच ही तकलीफ हो रही है भाई ?'

सन्तोष का उतरा हुआ मुँह देख कर पराशर को अपने पर क्रोध आता है। यह क्या बचकाना हरकत है ? रस्सी को सांप समझने लायक ही मूर्खता है यह। जैसे ही उसे यह लगता है, वैसे ही पिछले कुछ दिनो से मन में जमने वाला कोहरा छँट कर उजाला छा जाता है। पराशर हँस पड़ता है। वातावरण खिल उठता है।

'तू तो यार, एकदम गदहे का अवतार है ! मजाक भी नहीं किया जा सकता तुमसे।'

सन्तोष का मन अभी भी सन्देह-मुक्त नही। वह फूँक-फूँक कर पाँव बढाता है, 'क्या जानूँ भई, कौन-सा तुम्हारा मजाक है और कौन-सी सच्चाई।'

पराशर की उजली निर्मल हँसी से शकुन्तला भी जैसे जाग उठती है। मुस्करा कर सन्तोष की चुटकी लेती है, 'जान ही पाते अगर तो तुममें और हममें फर्क ही क्या रहता ? और हाँ, साहित्यिक छवि फिर धावा बोलने आई थी, इस बार भी एक आटोग्राफ-बुक लाई थी।'

'फिर ? कब ? रात को ?'

'रात को ? नहीं रात को आने की हिम्मत अभी नही की है उसने। आई थी कल दोपहर में।'

'वाकई ? मगर उसने कुछ कहा तो नही।'

'कहा नहीं ? कब नही कहा ?' विमूढ़ शकुन्तला ने प्रश्न दोहराया।

'अरे वही, जब कल शाम को वापस आ रहा था, उसने रास्ते में ही धावा बोल दिया। बहन या सहेली पता नहीं किसकी आटोग्राफ बुक लाई थी साथ।'

'आपने हमें बताया तो नहीं।'

पराशर से न कहा गया कि पिछले कुछ दिनों से, पिछली शाम को भी, न किसी का कुछ कहने का मूड था, न सुनने का। उसने कहा, 'कहने काबिल बात हो तो इन्सान कहे। इसमें कहने लायक था ही क्या ? मैं बिल्कुल भूल गया था।'

सन्तोष ने कहा, 'भूले न तो क्या करे बेचारा। इधर कुछ दिनों से हमारे साहित्यिक जी एक नये प्लाट का ताना-बाना बुनने में मशगूल हैं।'

'अरे सच ? बताइये न कुछ इस प्लाट के बारे में।'

'अभी चाशनी में तार नही आया है।'

शकुन्तला को न जाने क्या हुआ। बिना सोचे-बूझे बोली, 'प्लाट की चाशनी का तार क्या आना ? उसमे सार कहाँ कि तार आये ? आपको तो सिर्फ शब्दों की कतार चाहिए। शब्द, शब्द और शब्द।'

'शब्द ?'

'और क्या ? आपके उपन्यासों के नारी-पुरुष तो सहज-सरल मनुष्य नही। उनको न घर की चिन्ता है, न गृहस्थी की। वे तो एक से एक बढ़ कर शब्द-संयोजन के यंत्र हैं। आपके उपन्यासो को पढ़ने से यह कदापि नही लगता कि इन लोग के घर-द्वार, गृहस्थी या समाज है। वे न खाते हैं, न सोते हैं, न किसी घरेलू समस्या का सामना करते हैं। वे तो सिर्फ लम्बी-चौड़ी, उजली-चमकीली बातें करते हैं। मुझे जान से हाथ धोना स्वीकार है, आपकी उपन्यास की नायिका होना नही।' शकुन्तला बात पूरी कर, काम के बहाने उठ गई।

ऐसी खुल्लमखुल्ला समालोचना से सन्तोष जरा असमंजस में पड़ा, पर पराशर की मुस्कराहट अविकृत रही। बहस चली ही है तो चले। उसे पुकार कर शकुन्तला से कहा, 'अरे भाई, मनुष्य हैं किसलिये ? इसीलिये तो कि बात करें।'

'नही। हर्गिज नही। मनुष्य को कुछ कहना है इसलिये ही बातो की सृष्टि हुई है।'

'मान गया, मगर जो बात कहनी जरूरी है, जो बात किसी को सुनानी आवश्यक है, उन्हें कहने के लिये लोगों की जरूरत भी है। नही तो कहेगा कौन ?'

'क्या जरूरत है ? उपन्यास की रमा से समाज के बन्धन तुड़वा इतने लम्बे-लम्बे व्याख्यान दिलवाने की क्या जरूरत थी ? इससे तो अच्छा होता कि आप अपने वक्तव्यों को निबन्ध का रूप दे अखबारो में छपवा देते।'

'निबन्ध ? निबन्ध तो जी, कोई पढ़ता नही।'

'एक बात बताइये। उपन्यास के पात्रों से आप जो बातें कहलवाते हैं, क्या ये बातें आपके मन की बातें हैं ? आपको इन पर विश्वास है ?'

'अब तो गये काम से ? क्या मुझे ही मालूम है कि कौन सी बातें मेरी कलम की हैं और कौन-सी मेरे मन की ?'

'मतलब यह कि आप अपने मन से भी आँख-मिचौनी खेलते हैं ?'

'ऐसा कौन नही करता ? सुनिये, आपको एक कहानी सुनाऊँ। मेरे एक फूफा थे। बड़े ही कट्टर विचारों के। उनकी कट्टरता सनातनी रीति की नही। वे ब्राह्मो समाज के सदस्य तो नही थे, पर भावनायें उन्ही की जैसी थी। देवी-देवता, भजन-पूजन बुआ चोरी-चोरी करती थी कि फूफा को पता न चले। गण्डा-ताबीज घर में घुसता नही था। बड़ी से बड़ी मुसीबतें-बीमारियाँ आई पर फूफा नही झुके। बुआ हमारी बिल्कुल सनातनी। खैर, जैसे-तैसे दिन बीत रहे थे। फिर क्या हुआ कि उनकी एकलौती बेटी बीमार हुई। तीन बेटों के बाद पैदा हुई थी वह, इसलिये फूफा को बहुत प्यारी थी।'

'क्या हुआ ? उसे गण्डा-ताबीज दिया उन्होंने ?'

'नही। ऐसा नही। उस किस्म की चीजों को घर तक लाने का साहस करने लायक जिगर किसके पास था ? बुआ बहुत रोईं, गिड़गिड़ाईं, मगर फूफा अविचल। बेटी मर गई।'

'मर गई ?'

'मरती तो वह जरूर। उसे जो हुआ था उससे बच कर कोई नही निकलता। यह बात सभी जानते थे। फूफा भी। पर, बेटी के मरने पर फूफा एक दिन, जानती हैं, मेरे पिता से क्या कहा ? बोले, अब क्या लगता है, जानते हैं भैया ? लगता है, कौन जाने, शायद अगर उसको एक बार ताबीज पहनाते तो वह बच गई होती। आजकल मुझे अक्सर लगता है कि मैंने ही उसकी हत्या कर दी है।' अब आप ही बताइये कि अपने को पहचानना कठिन है या नही ?'

इधर पिछले दो-तीन दिन से सन्तोष के मन में एक उठा-पटक मची थी। वह सोच रहा था कि गाँव जाकर मात-पिता को मना-बुझा कर और बेटे को लोभ-लालच देकर यहाँ ले आये। यह शकुन्तला से कहा न जायेगा, इस बात को वह खूब जानता था। वह है एक नम्बर की जिद्दी। सुनते ही मना करेगी। इधर उसे बिना बताये जाना मुमकिन भी नही। एक बात और भी थी। एक रात उस घर मे सिर्फ पराशर और शकुन्तला रहेंगे, यह ख्याल आते ही उसके मन को बर्फ-सी शीतल उंगलियों ने दबोच लिया। इस घुटन को उसने अपनी स्वच्छ-सुन्दर रुचि-बोध से दूर भी फौरन कर दिया। उसने अपने को धिक्कारा—छिः, ऐसी निकृष्ट बात मेरे मन में आई ? इतना गिरा हुआ इन्सान हूँ मैं ? अपने को इस नीचता का दण्ड देने के लिये उसने जाने का पक्का निश्चय कर लिया।

एक बार सोचा, सिर्फ बिल्टू को न ला कर अगर माँ-बाबू को भी साथ लाये तो कैसा रहे ? गंगा-स्नान, कालीघाट दर्शन जैसी लालच दिखाऊँ तो क्या वे लोग राजी न होंगे ? और फिर जब आ जायेंगे तो शहर कलकत्ते के सैर-सपाटे, मिठाइयाँ और रंग-बिरंगे खिलौनों से तीन-चार साल के बच्चे का मन जीता न जा सकेगा ? कौन जाने, वही ऐसा रीझे कि यहाँ से जाना ही न चाहे !

यह सब शकुन्तला से बताया नही जा सकता। सलाह का तो सवाल उठता

ही नही। वाज, मामलों में उसके ख्यालात बड़े विचित्र हैं। इसलिये उसने चालाकी का सहारा लिया।

शकुन्तला किचन में थी। सन्तोष किचन के सामने जा खड़ा हुआ। इधर-उधर की कहते-सुनते बोला, 'बाबू की चिट्ठी आई है। लिखा है माँ की तबीयत ठीक नही चल रही है। सोच रहा हूँ, कल छुट्टी है, जाकर उन्हें यहाँ ले आऊँ।'

'यहाँ ले आऊँ?' शकुन्तला का प्रश्न बहुत ही तीव्र, बहुत ही तीक्ष्ण लगता है, सुनने में। लगता है पूरी तेजी से दौड़ता घोड़ा अगर अचानक अपने सामने खाईं देखे तो जैसा चिहुकेगा, बिदकेगा, वैसी ही चिहुँक कर आर्तनाद कर उठी शकुन्तला, 'किसे ले आओगे?'

सन्तोष विस्मित हुआ। क्या बात है? शकुन्तला इतना चौंक क्यों गई? इतनी तीव्रता से क्यो बोली? क्या वह इतनी अनमनी थी कि उसने मेरी बात सुनी ही नही? या, उनके आने की सूचना उसे इतनी ही अरुचिकर है, कि वह अपनी अरुचि को प्रयास कर के भी रोक नही सकी? तनिक रुष्ट होकर सन्तोष ने कहा, 'ऐसा भी क्या चौंक जाना? मैं माँ-बाबू और बिल्टू को यहाँ लाने की बात कह रहा था।'

'कब आई चिट्ठी?'

यह डाक का वक्त नही, इसलिये सन्तोष को फिर झूठ बोलना पड़ा, 'चिट्ठी कल आई थी। रात तुम्हारी तबीयत ठीक नही थी इसलिये नही बताया था।'

हाथ धो, पल्ले में पोछती हुई शकुन्तला बोली, 'लाओ दिखाओ खत? ऐसा क्या लिखा है, कि तुम....' कहती हुई किचन से निकल कमरे मे आई वह। अतः सन्तोष को भी उसके पीछे-पीछे आना पड़ा। अलगनी पर रखी पतलून-शर्ट की सारे जेबें खोजने पर भी चिट्ठी नहीं मिली। हार कर सन्तोष ने कहा, 'पता नही कहाँ गई, मिलती ही नही।'

जहर-बुझी मुस्कराहट से शकुन्तला बोली, 'यह तो मैं जानती थी कि नही मिलेगी।'

'कैसे जानती थी? ऐसा भी तो हो सकता है, कि मैं उसे दफ्तर मे भूल आया।'

'आजकल तुम्हारे पिता दफ्तर के पते से खत भेजते हैं क्या?'

तिलमिला कर सन्तोष ने कहा, 'भेजते हैं या नही भेजते हैं, इससे तुम्हें क्या? साफ बात है, कल मैं वहाँ जा रहा हूँ और ला सकूँगा तो ले आऊँगा। तुम इधर की तैयारी पूरी कर रखना।'

अरे! शकुन्तला को अचानक क्या हो गया। मुँह पान—साँसों की रफ्तार तेज से और तेज—स्वर मे वह तीव्रता, वह कठोरता कि कभी पहले नहीं सुना था। बोली वह, 'हाँ, यही—यही है साफ बात। और इस 'साफ बात' की जरूरत क्यों पड़ी यह भी मालूम है मुझे। लेकिन यह भी तुम सुन लो। चौकीदार बिना [illegible]

मुझ पर पहरेदारी करने का इरादा है तो सोच लो। इससे रिश्ता और भी कटु हो जायेगा।'

'चौकीदारी !' सन्तोष धक् रह गया ! 'मैं तुम पर पहरेदारी करवाने चला हूँ ?'

'और नहीं तो क्या ? अगर यही नही तो इतने दिन बाद अचानक माँ-बाप को यहाँ ला बिठाने की इच्छा कैसे जाग उठी ? खैर कोई बात नही, ऐसा ही करो।' कह कर शकुन्तला किचन की ओर चल पड़ी।

बिल्टू यहाँ आयेगा, इस बात से रंचमात्र द्रवित न हुआ उसका मन, सास-श्वसुर के आने की सुनते ही आग-बबूला हो गई वह।

शकुन्तला छिटक कर बाहर चली गई। सन्तोष भी पीछे हो लिया। किचन में जाकर कहा, 'पहरेदारी की बात क्यों कही तुमने ?'

शान्त प्रकृति के लोग जब क्रोधित होते हैं तब उनके क्रोध का पारावार नही रहता।

लेकिन शकुन्तला को इस क्रोध की परवाह नही। बोली, 'जो सच है वही कहा मैंने।'

'कब तुम्हें मेरी किस बात से इस प्रकार की नीचता का आभास हुआ है ?'

'नही। अब तक बेशक ऐसा अनुभव नही हुआ। बहुत-बहुत मेहरबानी तुम्हारी कि आज तक बहुत उदारता दिखायी तुमने। लेकिन लगता है अब तुम्हारी आस्थायें डांवा-डोल हो रही हैं, इसलिये अधिक अनुभवी लोगों की शरण में जा रहे हो।'

आसमान से गिरा सन्तोष। यह उसने कभी कल्पना भी न की थी कि माँ-बाबू के यहाँ लाने के प्रस्ताव का वह ऐसा कुत्सित, घृण्य अर्थ निकालेगी। मगर क्यों ? आखिर कौन-सी बात हो गई जिसके कारण ऐसी घिनौनी बात शकुन्तला के मन में आई ? सन्तोष के मन के किसी कोने में जो बात कभी जागी तक नही, उसी बात को शकुन्तला ने इतनी आसानी से कैसे कह दिया ?

सन्तोष और कठोरता से कहने लगा, 'तुम्हारे इस अनुमान में तुम्हारी नीचता ही प्रकट हो रही है। तुम्हें माँ-बाबू अच्छे नही लगते, इस कारण उनका आना रोकने की चेष्टा में ऊल-जलूल बक रही हो। उन लोगों से तुम्हें इतनी जलन है कि एक तीन साल का बालक, जिसकी माँ हो तुम, उससे भी नफरत करने लगीं तुम ?'

'जो बुरे होते हैं, वे ऐसे ही होते हैं।'

क्या घण्टे भर पहले भी शकुन्तला या सन्तोष को ख्याल आया था कि वे इस तरह झगड़ेंगे ? झगड़ सकेंगे ? कलह का भी शायद एक आकर्षण है, नशा है, इसीलिये शायद जो आग एक पल की नीरवता से बुझ जाती वह क्रमशः बढ़ती ही चली।

'मैंने तुम्हें कभी बुरी कहा है ?'

'कहा तो बेशक नहीं, पर जो ख्याल तुम्हारे मन में अंकुरित हो शाखा फैला

रहा है, उसका प्रमाण तुम्हारे इस प्रस्ताव से मिल गया मुझे। लेकिन, इतना ही डर है तो— इतने लाड़ से दोस्त को घर बुलाया क्यों था ?'

सन्तोष की सहनशीलता समाप्त हो गई। दबे पर तीव्र स्वर से वह चीख पड़ा, 'यह तुमने ही कहा, मैंने नहीं, कि दोस्त के घर आने से पत्नी का शील-भंग हो जाता है।'

आवाज में कटुता घोलती शकुन्तला बोली, 'तुमने क्यों कहा कि तुम्हारे शास्त्रकारों ने तो न जाने कब ही सावधान किया है। माना क्यों नहीं उनका कहा ?'

'छिः शकुन्तला ! हजार बार छिः ! लानत है तुम पर अपने को इतना गिराते शर्म नहीं आई तुम्हें ? व्यर्थ में यह क्या कीचड़ सामने ला रही हो ?'

कठोर मुख-मुद्रा बनाये शकुन्तला न जाने कौन-सा कड़ुवा जवाब देने चली थी की साक्षात् क्लाईमैक्स के क्षण में रंगमंच का पर्दा टूट कर गिरा। उसकी दाई चन्दना किचन के दरवाज़े पर आकर बोली, 'भाभी जबन मछरी के कहे रहू, तवन तो नाही मिलल। दूसर मिली। पूरे रही कि काटे होई, तनीं बताये देव।'

ताज्जुब ! शकुन्तला इस महानाटक को छोड़ आँगन के किनारे मछली देखने, उसे काटने का निर्देश देने चली गई। उससे भी ताज्जुब, कुछ ही देर बाद उसी मछली के सहारे चावल खा सन्तोष दफ्तर भी चला गया। पराशर से मुलाकात न हुई। जाते वक्त सन्तोष ने देखा, उसका कमरा खाली था। पराशर सुबह ही कहीं गया है, अभी तक आया नहीं।

बहुत देर बाद लौटा पराशर।

उसके स्कूल की छुट्टी थी, अतः अल-सुबह ही प्रकाशक से मिलने चला गया था।""वापस आकर देखा, मकान पर अजीब-सी शब्दहीनता छाई है। यह तो पता ही था कि इस वक्त सन्तोष रहेगा नहीं, यह भी पता था कि शकुन्तला अकेले-अकेले बात नहीं करेगी। पराशर को यह भी पता था कि दाई अब तक कब की जा चुकी होगी। फिर भी उसे लगा कि आज की चुप्पी और दिनों से कुछ ज्यादा ही है।

मुहल्ले में कहाँ गई है शकुन्तला ?

मगर सारे किवाड़-खिड़की खुले छोड़ इस तरह जाना क्या मुमकिन है ? पराशर की देरी देख, उसका बाट जोहती सो तो नहीं गई शकुन्तला ?

बाथरूम में जा पराशर ने अपनी प्रकृति के खिलाफ, खूब जोर-जोर से पानी डालने की आवाज के साथ स्नान पूरा किया। फटाफट तौलिया फटका। फिर भी सारे घर में वैसा ही सन्नाटा छाया रहा। उसे ऐसा लगा कि किसी ने टोने-टोटके से घर को ऐसा वशीभूत किया है कि गूंगा हो गया है वह।

शकुन्तला को हो क्या गया ?

बीमार तो नहीं हो गई अचानक ?

काफी देर तक पराशर इसी उहा-पोह में रहा कि सन्तोष की अनुपस्थिति में उसके (शकुन्तला के) कमरे में जाकर पता करना उचित होगा या अनुचित। लेकिन इस अनिश्चय की स्थिति का सामना भी कब तक करे?

अतः धैर्य की परीक्षा में वह फेल हो गया।

सोचा, चिन्ता किस बात की? कमरे के अन्दर तो नहीं जायेगा वह, दरवाजे पर खड़े होकर हाल ही तो पूछेगा। इतना न करना भी बुरा होगा, कहीं सच ही बीमार हो, बुखार आ गया हो अचानक, और वह पूछे भी नहीं? लौट कर सन्तोष जब सुनेगा, तो क्या सोचेगा?

मतलब यह कि इच्छा के पक्ष में तर्क खड़ा कर इच्छा को बलवती किया पराशर ने।

इस कमरे से उस कमरे।

बीच में खाने वाला कमरा। मगर उस वक्त लग रहा है कि बीच की दूरी सागर की चौड़ाई-सी चौड़ी। ताज्जुब यह कि इस वक्त जो दूरी इतनी भयानक हो गई है, सन्तोष के घर पर रहने पर कभी दूरी-सी लगती नहीं। कितनी ही बार, छुट्टी के दिन, दोपहर को सन्तोष उसे अपने कमरे में घसीट ले गया है—ताश खेलने। पराशर को ताश का न शऊर है न शौक—फिर भी सन्तोष उसे ले जाता। खेलना नहीं आता, आओ सिखाता हूँ। शौक नहीं? खेलते-खेलते शौक आप ही हो जायेगा। ताश-वाश कुछ होता नहीं, होती ताश के नाम पर कुछ चुहलबाजी, कुछ गप्पबाजी। जो भी होता हो, सारी-सारी दोपहरिया काटी तो हैं उस कमरे में।

मगर सन्तोष की अनुपस्थिति कितनी डरावनी है। लेकिन, क्या पहले कभी सन्तोष की गैरहाजरी में वह घर पर रहा नहीं?

क्यों नहीं? बहुत बार ऐसे मौके आये हैं। लेकिन उन मौकों पर शकुन्तला कभी इस प्रकार निश्चिह्न नहीं हुई थी जैसे आज। सितार की मधुर झंकार सी वह तो पूरे वक्त घर के इस कमरे में, या उस किचन में, या बरामदे में झंकृत होती फिरती थी।

हिम्मत बटोर, नपे-तुले कदमों से, पराशर शकुन्तला के कमरे के दरवाजे पर आया। सोचता आया कि सो रही होगी वह। मगर कहाँ शकुन्तला? कमरा तो खाली है।

बड़ी विचित्र बात है।

किचन में गया। किचन भी खाली!

एकाएक याद आया—कहीं अपने परम प्रिय बगीचे में न हो।

बहुत मुमकिन हैं वहीं होगी।

उसका अनुमान सही निकला। थी वहीं। नहीं, फूल-पौधों की हिफाजत नहीं कर रही है, एक कोने पर पड़े एक पत्थर पर पत्थर की मूरत-सी बैठी है।

'क्या कहने आपके! यहाँ हैं आप?'

चौंकी शकुन्तला। उठ खड़ी हुई।

'आप आ गये ? कितनी देर हुई आपको आये ?'

'मुद्दत हुई। नहा भी चुका।'

'हाय, हाय! चलिये खाना लगाऊँ।'

'ऐसा आप मत सोचियेगा कि महज भूख के मारे आपकी तलाश में निकला हूँ। मैं जब से आया हूँ, यही सोच रहा था कि मुसम्मात को हो क्या गया। न दिखाई पड़ रही हैं, न सुनाई। आपने भी तो खाया नही खाना ?

'मेहमान भूखे रहें और मैं खा लूँ ? लानत है मुझ पर!'

'अरे नहीं, लानत तो मुझ पर है। मेरी वजह से आपको इतनी देर हुई। अभी तक भूखी बैठी हैं ?'

'मेरी थाली तो लगाई। आपकी कहाँ ?'

'अभी नही खाऊँगी। मन नहीं हो रहा।'

'अभी भी नहीं खायेंगी ? मतलब यह कि खायेंगी ही नहीं। मेरी वजह से आपका यह हाल हुआ ? देखियेगा, कहीं भूखे पेट पित्त-वित्त न....। मेरे कारण आपको कितनी परेशानी उठानी पड़ती है।'

'हाँ।'

'हाँ ? काहे का हाँ ?'

'आपके कारण मुझे परेशानी ही परेशानी है।'

मुस्करा कर खाने मे मन लगाया पराशर ने। शायद सन्तोष के सामने न होने की भयावहता से मुक्त होने के लिये ही प्रसंग बदल कर कहने लगा, 'खाया नहीं आपने, घाटे में आप ही रहीं। आज की गोभी और यह मछली बनी बहुत बढ़िया है। क्या नाम है इस प्रेपरेशन का ? रसा ? या और कुछ ?'

वातावरण हल्का करने के पराशर के इस प्रयास पर ध्यान नही दिया शकुन्तला ने। बल्कि सँभल कर कुर्सी पर बैठी। कठोर और स्पष्ट शब्दों में बोली, 'आप से कुछ पूछना है।'

'पूछना ?' अचकचाया पराशर।

'हाँ। बोलती हूँ। उस दिन आप घी और आग की उपमा दे कर क्या कहना चाह रहे थे ?'

काँप उठा पराशर का दिल। अगर इस वक्त सन्तोष यहाँ होता, तो काँपते हुये दिल के बावजूद भी वह मुँह बन्द करने लायक जवाब दे सकता था। शायद खूब खुल कर मजाक करता। लेकिन उस दिन, उस वक्त, उस निःशब्द दोपहर के एकान्त में उसे कोई जवाब नही सूझा। काँप कर देखता रहा। शकुन्तला को ही नहीं, नजर घुमा कर चारों तरफ देख लिया।

कोई कहीं नहीं—न चरिन्दा, न परिन्दा। कमरे के खुले किवाड़ के पास अपनी शिथिल देह फैलाये पड़ा है लाल सिमेण्ट किया बरामदा, जिस पर धूप चमक कर

चौंधिया रही है। बरामदे के पार आँगन। आँगन की सीमान्त बताने के लिये ऊँची चहारदीवार।

उसके पार क्या दुनिया है!

जहाँ जीते जागते मनुष्य हैं, बातों की झंकार है, भरोसा है!

'क्या हो गया? बोलिये, जवाब दीजिये?'

हिचकिचाते हुये पराशर ने कहा, 'याद तो करने दीजिये, कब किस प्रसंग में मैंने ऐसा कहा था। इतने भारी प्रश्न का उत्तर इतनी जल्दी तो दिया नहीं जा सकता।'

इतना कुछ कह पाने पर पराशर की जवाब दी हुई हिम्मत फिर लौटने लगी। शब्द ब्रह्म का ही रूप है। शायद इसी कारण शब्द से भरोसा होता है। शब्द पर निर्भर किया जाता है।

शकुन्तला ने तीखेपन से कहा, 'टालिये मत। भूलने लायक प्रसंग नहीं है यह। बताइये, मुझे घी और आग की बात आपने शुरू क्यों की थी?'

क्षण भर की चुप्पी। फिर अपनी चेतना पर छाने वाली जड़ता को झाड़ फेंका पराशर ने। शकुन्तला के मुख पर सीधी दृष्टि स्थापित करते हुये उसने कहा, 'जानना चाहती हैं? सुनिये फिर, यह बात है तो बहुत पुरानी, पर इसकी सच्चाई पर मुझे पूरा विश्वास है।'

सारे शरीर का खून आकर शकुन्तला के मुख पर इकट्ठा हो गया। उसने पहले प्रश्न से भी अधिक तीखा प्रश्न किया, 'आपको इस बात पर विश्वास है, यह आपने अपने दोस्त के आगे स्वीकारा है?'

'जो बात सच है उसे स्वीकारने में हिचक कैसी?'

'छिः! छिः!! छिः!!!'

अब तक के झिझकते-हिचकिचाते पराशर की आवाज में दृढ़ता आई। उसने बड़े आत्मविश्वास के साथ कहा, 'धिक्कार कर दूसरे को धोखा दिया जा सकता है देवी, अपने को नहीं। इस वाणी को आप खुद नकार सकती हैं? बोलिये?'

उतर गया खून। शायद आखिरी बूँद तक। राख सा रंगहीन हो गया था शकुन्तला का मुख। निर्जीव दृष्टि से देखती अति निर्जीव स्वर से बोली, 'अवश्य नकार सकती हूँ। यह सब बेकार की बातें हैं। न किसी शास्त्र में है, न पुराण में। यह तो महज इसलिये कहा जाता है कि औरत जात को हरम में बन्द रखने की छूट उपलब्ध हो। क्या मनुष्य इतना ही दुर्बल जीव है कि…'

'मनुष्य ही तो सब से दुर्बल जीव है।'

'मैं नहीं मानती।'

शकुन्तला का सफेद पड़ा मुख, उसकी विषाद भरी आँखें और सूखे होंठों पर एक नजर डाला पराशर ने। मुस्कराहट बिखरने लगी उसकी होंठों पर। प्रयास से मुस्कराहट को दबा उसने कहा, 'तब तो मानना ही पड़ेगा कि आप असाधारण शक्ति-शालिनी हैं। मैं कमजोर हूँ। मैं यहाँ से चला जाऊँगा।'

'चले जायेंगे ?'

'हाँ,' कह कर पराशर उठ खड़ा हुआ। चलते-चलते उसने कहा, 'ऐसा ही तय किया है मैंने।'

शकुन्तला भी साथ हो लेती है।

सामने जा, पराशर के करीब खड़ी होती है।

अपने तेज चलते साँसों पर काबू पाने का विफल प्रयास करती शकुन्तला बोली, 'ऐसा आपने क्यों तय किया ?'

'यहाँ रहना संभव नही, इसलिये।'

'क्यों असंभव है ?'

लम्बे बरामदे के इस छोर से उस छोर तक पराशर चक्कर लगा रहा है। उसकी बाहें सीने पर बंधी हैं, शकुन्तला के इस प्रश्न से बाहों का कसाव बढ़ जाता है, मुख की रेखायें कठोर हो जाती हैं। ऊँचा माथा और लम्बी नाक पर दृढ़ता की झलक स्पष्ट से स्पष्टतर होती है। चलते-चलते शकुन्तला के करीब आ कर रुक जाता है वह सहसा। तीव्रता फूटती है उसकी आवाज में जब वह कहता है, 'पूछ रही हैं मुझसे ? क्या आप खुद नही जानती कि रहना क्यों असंभव है ? मानवजाति की दुर्बलता के विषय में अनुभव न रखने वाली महिमामयी शक्तिशालिनी देवी, जानती नहीं हैं आप क्यों असंभव है मेरा यहाँ रहना ?'

सारे प्रयास विफल हो गये।

सारे पर्दे खुल गये। खड़ी थी शकुन्तला। अचानक, वहीं धूल पर धम्म से बैठ गई। दो हथेलियों मे मुँह छिपा कर आर्तनाद कर उठी, 'जानती हूँ। खूब अच्छी तरह जानती हूँ। फिर भी, आपका जाना नही होगा। अगर आप चले गये तो अपने को कभी माफ न कर सकूँगी मैं।'

उसी जगह, उसी तरह बैठी रही शकुन्तला।

उसे कुछ देर देखता रहा पराशर। फिर, बिना एक भी शब्द बोले चप्पल पहन निकल गया घर से।

शहर की छाया नहीं पड़ी है इस स्थान पर।

मजे की बात यह है कि इस जगह से सौ सवा सौ गज की दूरी पर बनी रेल की पटरी पार करने पर ही जगह की शक्ल बिल्कुल बदली-बदली नजर आती है। वहाँ पेड़-पौधों का राज है, राज है अन्धेरे का।

कुछ दूर तक पगडण्डी समान और सपाट है, फिर असमतल, ऊबड़-खाबड़। इतना अधिक असमान कि चप्पल पहन कर चलना खतरे से खाली नहीं। पर मजबूरी थी, बैठने लायक कोई जगह थी नहीं, अतः पराशर को चलते ही रहना पड़ा।

क्या करे वह ?

यह जो चला आया है, क्या दोस्त की आश्रय-छाया से यही उसका अन्तिम छूट आना है ? अब और वापस न जाये वह ?

नहीं । यह नहीं हो सकता । बहुत दृष्टिकटु होगा वह ।

बहुत ही घृण्य होगा उसका ऐसा करना ।

कम से कम एक बार उसको जाना ही पड़ेगा । एक बार जाकर खड़ा होना ही पड़ेगा सन्तोष के सामने । दोस्त ने उस पर विश्वास किया है, उसे उस विश्वास की कीमत चुकानी ही पड़ेगी । दोस्त से बेईमानी कर वह ज़िन्दा कैसे रहेगा ।

यह बात जब पराशर के मन में जागी तो उसे बड़ा ताज्जुब हुआ ।

क्या इसी को विधि का विधान कहते हैं ? क्या सच ही, सब की दृष्टि के अगोचर कोई भाग्य-विधाता है ? क्या सच ही वह आड़ में हँसता या करता है ? हँसता है मनुष्य की मूढ़ता देख, उसका दुःसाहस देख, अपने पर मनुष्य की अगाध आस्था देख ?

धत् तेरे की पराशर राय ! यह तूने क्या किया ? सस्ते उपन्यास के सस्ते नायक की तरह मित्र की पत्नी के प्रेम में डूबा ! इससे शर्मनाक कुछ क्या कल्पनीय है ? क्या इससे अधिक मूर्खता हो सकती है ?

लेकिन क्या यह सब केवल पराशर ने ही किया ?

केवल पराशर ने ?

शकुन्तला ?

हर क्षण, हर वाक्य से, हर दृष्टि से क्या वह प्रचण्ड शक्ति खींचती नहीं रही पराशर को अपनी ओर ? मनोवैज्ञानिक पराशर राय ने शकुन्तला की नब्ज सही-सही नहीं पढ़ी थी क्या ?

अगर शकुन्तला अपनी जगह अटल रहती, अगर कमज़ोर न हो जाती, तो क्या पराशर अपनी चित्त वृत्तियों से इस प्रकार हार मानता ? अब बात ऐसे कगार पर आ खड़ी हुई है कि हार मानने के अलावा कर ही क्या सकता है । जिस बाला को मुझसे प्रेम है, क्या इच्छा नहीं होती, कि एक बार कम से कम उससे अन्तरंग हो ? क्या एक बार भी इच्छा नहीं होनी चाहिये कि अपने हृदय के कपाट उन्मुक्त कर उससे कहे कि मैं भी हाड़-माँस का जीव हूँ, लकड़ी-पत्थर नहीं ?

फिर भी शायद यह बात किसी दिन न खुलती, जो बात अनकही थी, वह अनकही ही रह जाती, अगर आज की यह विचित्र स्थिति न आती सामने ।

चलते-चलते बहुत दूर निकल गया पराशर, ख्याल ही नहीं कहाँ जा रहा है, कितनी दूर चला आया । उसे सिर्फ यही सवाल बार-बार सालता रहा, क्यों इतनी कमज़ोर हो गई शकुन्तला !

ताज्जुब ! बहुत ही ताज्जुब !!

लेकिन, अगर सोचा जाये, तो शायद लगे कि इतना ताज्जुब मानने की कोई बात नहीं है यह ।

शकुन्तला अगर पराशर के किसी उपन्यास की नायिका होती, तो वह भी ऐसा ही करती। यही स्वाभाविक होता।

फिर भी आश्चर्य ही होता है पराशर को। बार-बार उसे वह दिन याद आता जिस दिन उसने शकुन्तला को पहली बार देखा था। उस दिन वह कितनी खुश लग रही थी। कितना सुखी और परितृप्त था सन्तोष।

पराशर ने उन दोनों के मुखों से उस आनन्द को, उस तृप्ति को पोंछ कर निश्चिह्न कर दिया है।

मगर पराशर करे तो क्या?

अपने को धिक्कारों से, लानत-मलामत से तार-तार नहो कर पा रहा है पराशर, क्योंकि इतने दिनों बाद इस क्षण विधिलिपि पर विश्वास करना शुरू किया है उसने।

क्षोभ, दुःख, लज्जा। पुलक, रोमांच, सुख। इसमें कोई शक नहीं कि यह बातें परस्पर-विरोधी हैं। लेकिन यह भी सच है कि ये सर्वदा एक दूसरे से लिपटी रहती हैं। न इन्हें अलग किया जा सकता है, न एक के बिना दूसरे को पहचाना जा सकता है।

वक्त बीतता गया।

सूर्यनारायण के अस्त होने का समय आसन्न है।

ऐसे समय पराशर को होश आया कि वह बहुत दूर निकल आया है। उसे यह भी नहीं पता कि कौन सी जगह है यह। अब इतना ही रास्ता वापस जाना है।

डूबते सूर्य की किरणें पिघला सोना बरसा रही हैं धरती पर? तृण-गुल्मों पर? सड़े जोहड़ पोखरों पर। उनके सोना बरसाने में कहीं कृपणता नहीं। कभी न चुकने वाले अपने भण्डार से कितना सोना, कितना ऐश्वर्य बरसा रही हैं वे। जब अन्धेरा छाने लगता है तब लगता है कि शायद अब कुछ नहीं बचा। सूना हो गया है उनका भण्डार। लेकिन नहीं, फिर चमक उठता है सूर्य, पिघले सोने की धारायें फिर ऐश्वर्य-मण्डित करती हैं धरती को।

मनुष्य ऐसा दीन-दरिद्र क्यों है? उसका ऐश्वर्य एक बार समाप्त होने पर सर्वथा के लिये क्यों समाप्त हो जाता है?

सन्तोष घर के सामने वाली सड़क पर चक्कर काट रहा था।

पराशर को देखते ही आगे बढ़ा। अपने आनन्दी स्वभाव के अनुसार हो-हल्ला नहीं मचाया, लेकिन शान्त और सहज स्वर में पूछा, 'क्यों भई पराशर राय, मामला क्या है? कापी कलम ले कहीं आसन जमा लिया था क्या!'

'हाँ, जरा देरी हो गई।'

'जरा? दोपहर को खाना खाने के फौरन बाद ही बाहर चले गये थे।'

'दोपहर को? हो सकता है। ठीक याद नही।'

ऊल-जलूल चिन्ताओं में डूबे पराशर के मन में एक प्रश्न कौंधा। किसने बताया सन्तोष से, कब का गया हुआ है वह? तो क्या शकुन्तला ने? नारी जाति भी क्या खूब है! कितनी जल्दी सुलभा लेती हैं यह लोग अपने को।

'तुम दोनों मेरे इन्तजार में बिना खाये-पिये बैठे हो? जाऊँ, जल्दी से नहा लूँ।'

'हवा में नमी है, ठण्ड भी, इतनी रात गये नहाने....?'

'नहा ही लूँ।'

सहज साधारण वार्तालाप।

कौन कहेगा कि कहने वाले के दिल और दिमाग में बवण्डर मचा है।

ऐसा ही होता है। संसार का यही नियम है। कितना ही तूफान मचा हो मन में, सहज और शान्त होने का दिखावा करना ही पड़ता है।

दिखावे का यह बाँध जब तक है, तब तक सब ठीक-ठाक है, जिस दिन यह टूटता है उसी दिन गाज गिरती है।

जैसे ही यह बाँध टूटा वैसे ही बिखर जाता है सम्मान, नीलामी हो जाती है इज्जत की। इसी कारण मनुष्य अपनी सारी ताकत से इस दिखावे की रक्षा करता है।

सन्तोष सोचता है, 'शुक्र है, आज शकुन्तला से जो तकरार हुई मेरी, उसका पराशर को पता नहीं चला।'

पराशर सोचता है, 'दोपहर की उस घटना की बात सन्तोष को मालूम नही है, यही बड़ी अच्छी बात है।'

और शकुन्तला?

वह क्या सोच रही है, यह शायद वह खुद भी नही जानती। उसके विषय में सिर्फ इतना ही कहा जा सकता है कि वह एकदम शान्त हो गई है। शान्त ही नहीं, सहज भी। उसे देख यह लगता ही नही कि आज ही सुबह सन्तोष के साथ उसकी झड़प हो गई है। दोपहर को जिस नाटक का मंचन हुआ था, उस समय तो वह घर पर थी ही नही!

उसने खुद ही आगे बढ़ कर सन्तोष से कहा था कि दोपहर को खाना खाने के फौरन बाद ही पराशर कहीं गया है, अभी तक वापस नहीं आया। पराशर जब लौटा तब उसी ने पहल किया। इतनी धूप में दिन भर बाहर रहने के कारण चिन्ता और उद्वेग प्रकट करती रही।

बिना किसी हील-हुज्जत के रात का खाना पूरा हो गया।

पराशर जब अपने कमरे की ओर जाने लगा तो सन्तोष ने करुण हो कहा, 'क्यों रे, अभी सोना है तुझे ?'

'अभी ?' पराशर ने हँस कर कहा, 'अभी की तो क्या बात, पता नहीं आज की रात मुझे कतई नींद आयेगी या नहीं।'

'मतलब ?'

'मतलब, फिक्र। चिन्ता। मुझे तो खौफ है, कहीं मारे चिन्ता के, एक रात में मेरे सारे बाल सफेद न हो जायें।

शंकित हो सन्तोष ने कहा, 'क्या मामला है ?'

'मामला सुनने की ख्वाहिश है तो आराम से बैठो, बताता हूँ।'

पराशर की खाट पर बैठते हुये सन्तोष ने कहा, 'तुम्हारी बातों से तो मेरा दिल काँपने लगा है।'

क्षोभ और ग्लानि से भरा था पराशर का स्वर। उसने कहा, 'मना किया था मैंने तुमसे। कहा था कि खाल खोद कर घड़ियाल को घर बुलाना बुद्धिमान का काम नहीं। मगर तुमने मेरी एक नहीं सुनी। अब पीटो अपना सिर।'

'क्या कह रहे हो पराशर ? तुम्हारी एक भी बात मैं समझ नहीं पा रहा।'

'न समझ पाने की क्या बात है ? एकदम स्पष्ट ही तो कह रहा हूँ। तुम्हारी घरवाली को मुझसे प्रेम हो गया है। लो, अब जो करना है करो। अभी भी वक्त है, मुझे जाने दो। अगर अभी भी नहीं मानते, तो आगे की जिम्मेदारी मैं नहीं ले सकता।'

मगर आश्चर्य ! सन्तोष चौंकता नहीं। तिलमिलाता भी नहीं। बड़ी विचित्र सी मुस्कराहट फैलती है उसके मुख पर। धीरे पर स्पष्ट शब्दों में कहता है वह, 'घर से जाने देने पर ही तुम उसके मन से भी चले जाओगे, है ऐसी कोई गारण्टी ?'

सन्तोष के इस मन्तव्य पर पराशर पहले तो कुछ देर चुप रहा, फिर मजाक के लहजे में बोला, 'मेरा ख्याल था कि मैं तुम्हे नई खबर सुना कर चौंका दूँगा।'

'नहीं मेरे भाई, इस बार तुम ऐसा कर न सके। तुम्हारे मन में यह शुबहा कब से है गदहे राज ?'

'शुबहा ? शुबहा की बात कहाँ से आई ? मुझे तो इस बात का पूरा-पूरा विश्वास है ! कितना गोरा हूँ तुझसे ! फिर भी यह हाल मेरा ! इसी को तकदीर का फेर कहते हैं।'

'ओफ सन्तोष !' पराशर ने सन्तोष के कन्धों को झकझोर कर कहा, 'यह मजाक का वक्त नहीं, जरा सीरियसली सोचो इस बात को।'

'सीरियसली ?'

पराशर के बिस्तरे पर पसरते हुये सन्तोष ने कहा, 'सीरियसली सोचूँ ? ठीक है, अगर यही इच्छा है तुम्हारी, तो ऐसा ही होगा। लेकिन सीरियस होने पर मेरा

क्या हाल होगा यह भी सोचा है तुमने ?' सन्तोष का व्यंग्य व्यंग्य नहीं रुदन सा लगा पराशर को।

पुरुष की आँखों में आँसू नहीं आते। रोने के बदले हँसी आती है उन्हें। ऐसी हँसी हँसना औरतों को नहीं आता।

सन्तोष की रुदन-भरी हँसी के साथ मेल खाते स्तिमित स्वर में पराशर ने कहा, 'चाहता हूँ कि तू मुझे मत रोक। कल ही चला जाऊँ मैं।'

'जाने नहीं दूँ तो ?'

'बहुत हो चुका सन्तोष, अब बस कर।' पराशर ने सन्तोष के सिर पर हाथ फेरते हुये कहा, 'मेरे जाने की राह में रोड़े डाल अब और मूर्खता मत कर। मुझे जाना ही पड़ेगा। जाने दे मुझे मेरे भाई। मेरे चले जाने से सब ठीक हो जायेगा।'

सन्तोष बोला नहीं, सिर हिलाता रहा दाँयें-बाँयें। मतलब यह कि कुछ भी ठीक न होगा।

खीझ कर पराशर ने कहा, 'बोलता क्यों नहीं ? इस तरह सिर हिला मना क्यों कर रहा है ?'

'मना क्यों कर रहा हूँ, इतना भी नहीं जानता तू ? इतनी किताबें लिख डाली तूने, मानव मन की इतनी गुत्थियाँ सुलझा डाली अपने उपन्यासों में। इस वक्त इस स्थिति में तू, चला जायेगा तो उसका क्या होगा ? वह तो मारे अन्तर्दाह के मर जायेगी।'

पीड़ा से तड़प कर पराशर ने कहा, 'इस प्रसंग को अब बन्द कर सन्तोष। मुझे इस समय कुछ भी अच्छा नहीं लग रहा। मेरा यहाँ रहना अब कतई मुमकिन नहीं। सुख-शान्ति से परिपूर्ण था तेरा घर। यह मैंने क्या किया ? राहु होकर तेरे सुख-चैन को निगल गया मैं ? इस लज्जा को मैं कैसे सहूँगा ?'

सन्तोष ने जवाब न दिया, दोनों हाथों से पराशर का दाहिना हाथ पकड़ कर दबाया। उसके इस स्पर्श से व्यक्त होती है, उसके अन्तर्मन से उठती भावना, मित्र के प्रति अपार स्नेह और विश्वास। पराशर पर उसे क्रोध नहीं। घृणा या अविश्वास भी नहीं। जो है वह है, पराजय-जनित आत्म-धिक्कार—वह भी स्पष्ट नहीं, तीव्र नहीं—अत्यन्त मलिन और कुण्ठाग्रस्त।

सन्तोष की बन्द हथेलियों पर अपना बाँयाँ हाथ रख पराशर ने खेद और क्षोभ की हँसी हँस कर कहा, 'काश ! यह सब न हुआ होता। न मैं यहाँ आता, न तेरी बगिया झुलसती।'

सन्तोष ने ठहाका लगाया। हँसते-हँसते कहा, 'क्यों अपने को दोषी ठहराता है भाई ? जहाँ बारूद मौजूद है, वहाँ आग तो लगनी ही थी, आज चाहे कल, तेरी मौजूदगी तो महज एक बहाना है। एक बात बताऊँ ? बहुत सी बातें हैं। पहले जिनका तात्पर्य मेरी समझ में नहीं आता था, अब मैं उन्हें ठीक-ठीक समझने लगा हूँ। मेरा

ख्याल है, तुम्हारे कारण मेरा घाटा नहीं, फायदा ही हुआ है। आज तक जिस सिक्के को खरा मान बहुत खुश था, तुम्हारे आने से उसका खोटापन पकड़ लिया।'

'ऐसा न कहो सन्तोष। कौन कह सकता है? तुम्हारा सिक्का खरा ही था, ऐसा भी तो हो सकता है!'

'खरे-खोटे की पहचान तो जँचवाने पर ही होती है न! बिना जाँच के, खोटे सिक्के को अगर अशर्फी समझ तिजोरी में सहेज कर रख दिया जाये तो आत्म-सुख अवश्य मिलता है, सचाई का सामना कभी नहीं होता।'

चित्त जिनका निःशंक होता है, अचानक चोट पड़ने पर वे ही सब से अधिक घायल होते हैं। सन्तोष इतना अधिक घायल हो गया है कि अब वह माँ-बाबू या बिल्टू को ले आने की बात जबान पर ला नहीं सकता। अतः वह चुप ही रहता है। उसका विवेक मगर उसे निरन्तर कचोटता, सतर्क करता। कहता, 'शकुन्तला डूब रही है। मगर यह भी क्या उचित है कि वह डूब रही है, तो उसे डूबने दो? तुम पति हो, रक्षक हो। उसके भले-बुरे की जिम्मेदारी तुम्हारी है। तुम्हारा भी कोई फर्ज बनता है।'

एक ओर विवेक। दूसरी ओर क्षोभ। इनके आपसी द्वन्द्व में विवेक पराजित होता है।

और फिर विवेक हारे भी क्यों न? रक्षक तो वह है, मगर शकुन्तला की रक्षा वह किस हथियार से करेगा? बिल्टू से? राम कहो! वह तो इस महासागर में कागज की नाव है!

पाँच

भाभी की मौसेरी भाभी ने उलाहने से कहा, 'यह भी कोई तरीका है ? इस तरह घर-बार छोड़ कर परदेसी हो जाना था तुम्हें बबुआजी ? घर-द्वार सब तुम्हारा। तुम ठहरे मालिक, मैं कहाँ की कौन आ कर यहाँ ऐसी बसी कि तुम्हें बेघर होना पड़ा ? हाय ! हाय ! हाय ! मेरा तो मारे लाज के मर जाने को जी चाहता है। मैं आज ही बीबी को खत लिखूँगी कि बहुत रह ली वह मद्रास में। अब आ कर अपना घर-बार सँभाले, मैं भी रुखसत हो जाऊँ !'

एक साँस मे इतना सारा कह कर महिला ने उसाँस ले मुँह बन्द किया।

इस किस्म के नाटक के लिये पराशर तैयार होकर ही आया था, इसलिये घबराया नही। मुस्करा कर कहने लगा, 'यह कोई खास बात नही भाभीजी। महिला जाति की यह विशेषता है। वह बेबात ही अपने को दोषी मान मारे शरम के मर जाने की आकांक्षा का पोषण करती है।'

भाभी की मौसेरी भाभी इतनी गावदी तो नही कि पराशर की बात को न समझें। समझ गईं, पर जवाब अपने भोण्डे ढंग से ही दिया उन्होने। बोलीं, 'ऐसा कहने से कैसे होगा ? अरे भाई, यह मकान हमेशा ही तुम्हारा था। तुम्ही लोग यहाँ हमेशा से रहते चले आ रहे हो। मेरे यहाँ आते ही तुम्हारा स्कूल-दफ्तर सब इतना दूर हो गया कि यहाँ से तुम्हें जाना पड़ा ? यह बात तो नादान-से-नादान बच्चे के गले भी नही उतरेगी जी !'

'तब तो मजबूरी है !' कह कर पराशर सीढ़ी चढ़ ऊपर जाने को हुआ।

भाभी की भाभी ने हड़बड़ा कर कहा, 'ऊपर वाले कमरे में जा रहे हो क्या बबुआजी ?'

पराशर ने पीछे मुड़ कर देखा, मगर जवाब नहीं दिया। पीछे-पीछे आती भाभी की भाभी हाँफ-हाँफ कर कहती रही, 'वह जो उस दिन दफ्तर के दूर हो जाने की बात कह कर यहाँ से गये बबुआजी, तब से तो फिर झाँकने भी नहीं आये। लोगों की बातों से पता चला कि तुम अब मेस में भी नही रहते। कहीं किसी दोस्त के घर पर रहते हो। दोस्त की बीवी को यहाँ-वहाँ सैर-सपाटा कराने अक्सर ही से जाया करते हो।'

इस आक्रमण से पराशर पहले हतवाक् हुआ।

मय यौवन एकाकार होकर जीने की कामना को सफल कर सकें ? तब ये लोग क्या करेंगे ? जहाँ भी हैं ये विदेही आत्मा, क्या वहाँ से वे लोग क्रोधित हो अभिशापों की वर्षा करेंगे ? क्या इन दोनों नवीन प्रेमियों के दुःसाहस पर क्षुब्ध हो दीर्घनिश्वास ले तड़पेंगे ?

अपनी इस विकट कल्पना से हँसी आई पराशर को। विह्वलता के बादल छँट गये। भाभी की भाभी से हँस कर कहा, 'तो मेरा ऊपर जाना मना है ? किताबें थी दो-तीन·····'

भाभी की भाभी परेशान-सी हो बोली, 'अरे बबुआजी, कैसी बात करते हो ? मना क्यों होने लगा ? ऐसी कौन-सी बात कह दी मैंने कि तुम ऐसा सोचने लगे ?···· मेन्ती" अरी ओ मेन्ती, जरा नीचे तो आना एक बार। महिला की परेशानी देख पराशर को यह समझते देर न लगी कि मेन्ती नामधारी जीव के नीचे आ जाने के पहले ये पराशर को ऊपर जाने देने को तैयार नहीं।

भाभी की भाभी का यह रूप पराशर को बड़ा अजीब, बड़ा नया-सा लगा। कारण, जमाना था जब उन्होने इस 'मेन्ती' को ही पराशर का तपोभंग करने के काम मे लगाया था, जिसके कारण पराशर घर छोड़ कर भागा था। तो फिर अब क्या हो गया ?

किसी निष्कर्ष पर पहुँचने के पहले ही भाभी की भाभी ने फिर कहना शुरू किया, 'बबुआजी, आज की रात अगर बैठक में काट लेते तो बड़ी कृपा होती। कल तुम्हारा कमरा अवश्य खाली कर देंगे···।'

कितनी आकुली थी उनके स्वर मे !

सुनते ही पराशर के सिर-से-पाँव तक आग लग गयी। बड़ी कठिनाई से मन मे उफनते क्रोध को रोक कर कहा, 'यह आपने कैसे जान लिया कि मैं यहाँ रहने-खाने-सोने के इरादे ही से आया हूँ ?'

'यही तो उचित है बबुआजी ! बीबी का पत्र आया है। उन्होने लिखा है कि तुम्हें यही रहना चाहिये। नहीं तो जितने मुँह उतनी बातें फैल रही हैं।'

तो यह बात है !

पराशर के अबोध चित्त पर ज्ञान की एक विशाल प्रकाश रेखा ! तो यही कारण है कि उसे मेन्ती के रहते ऊपर जाना मना है ! इसीलिये सीढ़ी से ही पहरेदारी की शुरुआत !

'कौन-सी बातें फैल रही हैं ?' पराशर ने व्यंग्य से मुस्करा कर पूछा, 'यही न कि दोस्त की बीवी को ले कलकत्ते का सैर-सपाटा कर रहा हूँ ?'

'क्या कर रहे हो क्या नहीं, यह तो बबुआजी तुम्हीं जानो।' महिला ने रुष्ट होकर कहा, 'मुझे जो मुनासिब लगा वह मैंने कहा। बात चल ही पड़ी तो भाई, यह भी कहना पड़ेगा कि इससे तो यही अच्छा था कि वक्त से शादी-ब्याह कर गृहस्थी बसा लेते। हमारा तो ऐसा ही ख्याल है।'

पराशर ने कहा, 'अपने-अपने ढंग से स्वतंत्र चिन्तन का अधिकार तो सभी को है।'

'हम तो बबुआजी, पढ़े-लिखे हैं नही कि स्वतंत्र-परतंत्र के भेद को समझें। तुम किताब लिखने वाले लोगों की बात ही निराली है।'

एक बात स्पष्ट हुई। पराशर ने जो उनकी परिकल्पना का तहस-नहस किया, इस निराशा से महिला बौखला गई हैं।

'बात तो आपने बहुत ठीक कही है। हम लोगों की बात ही निराली है!' कह पराशर जोर से हँसा, 'अच्छा जी, तो फिर चलूं!'

'चले जाओगे? क्यो? ऐसा भला क्यों? रहोगे नही?'

'मैं रहने तो आया नही था।' कह पराशर सीढ़ी से उतरने लगा। मगर असलीयत तो यह थी कि वह वहाँ रहने के इरादे से ही गया था। वह वहाँ गया था, शायद, अपने से अपनी रक्षा करने। शहर के दक्षिणतम छोर से भाग कर अगर उत्तर छोर में छिप सकता तो क्या कुछ थोड़ा सफल भी न होता? वह यहाँ भाग कर ही आया था। छिपने के लिये ही आया था। वह आया था आग से दूर हट जाने के लिये, संकट से दूर हट जाने के लिये। कम-से-कम आज की रात के लिये शरण लेने आया था यहाँ।

अब पराशर क्या करे?

अगर विधाता ही बाधक हो तो क्या कर सकता है कोई?

कहाँ जाकर जान बचाये पराशर? यहाँ तो शरण नही, आश्रय नहीं, उल्टे रुकावट के काँटे बिछाये गये हैं।

क्या करता पराशर? विधि-विधान के आगे हथियार डाल वह दक्षिण-गामी बस में जा बैठा।

देखा जाये तो जीवन की जटिलताओं की शुरुआत ऐसी छोटी-छोटी बातो से ही होती है। कौन कह सकता है, अगर उस रात को पराशर अपने पुश्तैनी मकान में रह जाता, वापस उस घर में न जाता, तो शायद तीन व्यक्तियों के जीवन की गति किसी और दिशा में होती। यह भी हो सकता है कि किसी भी नयी दिशा में न मुड़ती, सरल-स्वस्थ ढंग से स्वाभाविक धारा में पहले जैसी बहती रहती। क्षण भर के लिये वायुमण्डल में जो तूफान आया था वह शान्त हो जाता—तूफान के थपेड़े से इनके जीवन में जो हलचल मची थी वह भी धीरे-धीरे स्तिमित होती। समय के साथ विलुप्त भी हो जाती। हो सकता है पाँच-सात दिन पर जब कभी पराशर फिर जाता तो यह लोग कहते, 'क्यों जी, कहाँ थे इतने दिन? बिना बोले-बतियाये कहाँ गायब हो गये थे?'

जवाब मे पराशर सलज्ज मुस्कान बिखेर कर खेद प्रकट करता, 'हाँ भाई, क्या बतायें, अचानक जरूरी काम पड़ गया था। तुम्हें सूचना देने को भी फुर्सत नही

मिली। सोच रहा हूँ अभी कुछ दिन उधर ही रहूँ, मतलब जब तक सिर पर आया यह काम पूरा नहीं हो जाता ।'

सन्तोष कुछ मजाक में, कुछ औपचारिकतावश पूछता, 'ऐसा क्या जरूरी काम आ पड़ा है यार कि यहाँ रह कर उसे पूरा न कर सकोगे ?'

कुछ झेंपता, कुछ खिसियाता हुआ पराशर जवाब देता, 'क्या बताऊँ यार, है ही मामला थोड़ा झमेले वाला। सामने-सामने रहने पर निपटना आसान होगा।'

रूठने का बहाना कर शकुन्तला कहती, 'क्यों बहाना बना रहे हैं ? साफ-साफ कहते क्यों नहीं कि मेरा बनाया खाना आपसे खाया नहीं जा रहा है।'

'आप मालिक हैं, जो चाहे सोच लीजिये,' कहता पराशर अपने ट्रंक-सूटकेस में सामान समेटने लगता और सपत्नीक सन्तोष क्षुब्ध हो उसका सामान समेटना देखते, पर उसके चले जाने को स्वीकार भी कर लेते।

फिर ?

फिर क्या होता ? होना क्या था ? मानव-समाज के आदियुग से जो होता आया है, उसी की एक और पुनरावृत्ति होती। शकुन्तला और पराशर की यह क्षणिक आत्म-विस्मृति की स्मृति मानस पटल के किसी अतल मे डूब जाती। हो सकता है एकान्त के किसी असतर्क क्षण मे वह स्मृति ऊपर की सतह पर आती, मगर तब तक इतना परिवर्तन हो चुका होता इन दोनों का कि उस स्मृति से ये कुण्ठित भी न होते। हो सकता है कभी-कभार सामना हो जाता। तब औपचारिकतावश कुशल-प्रश्नों के विनिमय के अलावा कुछ कहने-सुनने को भी न रह जाता।

पर ऐसा हो न सका।

शहर की उत्तरी सीमा से दक्षिणी सीमा में वापस आना पड़ा पराशर को, ताकि जीवन की यह जटिल गुत्थी उलझ कर और भी जटिल हो जाये।

विधि-विधान को मानने के अलावा उपाय भी क्या है ?

सड़क के किनारे, इम्प्रूवमेण्ट ट्रस्ट के सौजन्य से, अभी भी रेत और स्टोन-चिप्स की ढेर लगी है। यहाँ-वहाँ इक्के-दुक्के पेड़, सड़क खुली-खुली। दृष्टि दौड़ाइये तो रुकती नहीं, दूर तक दिखाई पड़ता है। बस से उतर कुछ दूर चलने पर ही दूर से एकतला वह छोटा-सा मकान दिखाई पड़ता है।

खिड़कियों के बन्द पल्ले। पल्लों के शीशे से छन कर आती नीली रोशनी की माया। स्वप्न-लोक की छाया।

हाँ। ऐसा ही। वह छोटा-सा मकान, जिसकी चौड़ी खिड़कियों के बन्द पल्लों से रोशनी छन कर बाहर आ रही थी, दूर से स्वप्नलोक सा ही लग रहा था। कितना सुहावना लगता है जब अन्दर नीली रोशनी जलती होती है और अगल-बगल के सारे मकान अन्धेरे की ओट में दुबक जाते हैं।

रात कितनी है इस वक्त ?

घड़ी देखने के लिये पराशर अपनी कलाई आँखों के करीब लाया। सड़क की

लाइटपोस्ट की बत्ती बहुत दूर थी, साफ़-साफ़ घड़ी में पढ़ा न गया। फिर भी, अन्दाज से सुइयों की स्थिति देख चौंक गया पराशर।

पौने बारह !!!

हद हो गई ! इतनी रात ! अब वह कौन-सा मुँह लेकर उनके दरवाजे जायेगा ? कैसे घण्टी बजा कर किवाड़ खोलने को कहेगा ? पर यह क्या ? इतनी रात गये भी वह नीली रोशनी चमक कैसे रही है ? क्या वे लोग उसके इन्तजार में बत्ती जलाये बैठे उसकी राह देख रहे हैं ? ऐसा तो नहीं कि साँझ को जलाई बत्ती गृह-स्वामिनी की लापरवाही के कारण बुझाई ही नहीं गई ?

चलते-चलते रुक गया पराशर।

आखिर क्यों ?

क्यों चाहता है पराशर कि उसे उस स्वप्न-लोक में प्रवेशाधिकार मिले ? शीशे की खिड़कियों के परली ओर जो कमरा है, उस पर जो नरम गुदगुदा विस्तरा लगा है, उस पर पराशर को लेटने का हक कहाँ मिला ? जहाँ पराशर को सचमुच कुछ हक है, जो जगह उसका वास्तविक आश्रय-स्थल है वहाँ से मुँह फेर यहाँ की कृपाकणिका पाने की आशा ले जो वह दौड़ा आया, क्या यह उसकी अकलमन्दी है ?

लानत ! लाख बार लानत !!

तो क्या करेगा पराशर ? वापस चला जायेगा ?

बहुत मुमकिन है पराशर उस रात उसी जगह से उल्टे पाँव वापस लौट जाता, मगर उस दिन तो विधि उसके पीछे-पीछे फिर रही थी।

'अरे ! पराशरजी ! इस तरह आप यहाँ क्यों खड़े हैं ? आप भी पिक्चर गये थे क्या ?'

इस अचानक प्रश्न-प्रहार से पराशर चौंक कर पलटता है। सुना है कभी यह स्वर। हल्की-सी याद है उसे।

हाँ, छवि ही है। साथ उसी की जैसी एक और लड़की और अधेड़ आयु की एक भारी-भरकम महिला।

मन ? जाये भाड़ में। मानसिक तनाव ? गोली मारो। इस संसार में एकमात्र औपचारिकता का ही राज है। उसके आगे सब कुछ हार मान जाते हैं। और तो सब बाद में, औपचारिकता के लगान का भुगतान पहले करना पड़ता है।

चौंक गया था पराशर। फिर मुस्करा कर बोला, 'तुम पिक्चर से आ रही हो ?'

'हाँ। यह है कल्पना, मेरी ममेरी बहन, ये हैं मेरी मामीजी। ये लोग जाने वाले हैं, इस वजह से हम अन्तिम दो में ही चले गये थे। पिक्चर इतनी लम्बी कि खत्म होने का नाम ही न ले। अरी कल्पना, मामीजी, यही हैं पराशर बाबू।'

नमस्कार आदान-प्रदान का नाटक पूरा हुआ। पराशर को पूछना पड़ा, 'कैसी लगी पिक्चर ?'

'एकदम कण्डम !' महिला बोली, 'आप भी तो वहो गये थे ?' पास में एक ही पिक्चर हाल है, इसलिये उनका यह प्रश्न बेतुका नहीं।

'मैं ? नही तो।'

छवि ने आश्चर्य से कहा, 'तो फिर इतने रात गये ?'

'यों ही। देर हो गई। कुछ काम था श्यामबजार में।'

'ओह ! मैंने सोचा आप भी गये होंगे पिक्चर। असल मे सन्तोष भाई को देखा हाल में, इसलिये सोच रही थी....।'

'अच्छा ? मगर वे लोग तो....।'

'आ जायेंगे। भाभी की चाल आप जानते ही हैं। धीरे-धीरे चलाती हैं वे ..।'

'तब तो अभी घर बन्द होगा, अन्दर जा भी न सकूंगा।'

'कितनी देर लगेगी ? एक बात बताऊं ? मेरी मामीजी आपकी अति एकाग्र पाठिका हैं।'

'अरे सच ? यह तो तुमने बड़ी अच्छी खबर दी।'

'आपसे परिचित होने की बड़ी इच्छा थी मामीजी की।'

'अब कैसे होगा ? तुमने कहा न कि चली जा रही हैं।' पराशर ने कहा।

'हां, कल ही। वैसे, इस बार कई दिन रही। टाटानगर रहती हैं।'

थकान और खीझ से शरीर और मन टूट रहा था। फिर भी पराशर ने यह नही कहा कि तुम्हारी मामी की कुण्डली बांचने के लिये मरा नहीं जा रहा हूँ। सभ्य समाज का जीव है न वह। उसने अति सौजन्य से हाथ जोड़ कर नमस्कार करते हुये विदा लेने की भंगिमा की। कहा, 'तो क्या हुआ ? फिर तो आयेंगी न ?'

अतः महिला-मण्डली को विदा लेना ही पड़ा।

नीली रोशनी का संकेत पकड़ पराशर चलता रहा। बड़ी विचित्र बात है। इतने धीरे चल कर भी वह करीब पहुँच गया और उन दोनों का पता ही नही। अब क्या करे पराशर ? सड़क पर टहलता रहे या सामने वाले सहन पर बैठा रहे ? टांगें तो जवाब दे रही हैं। मन हो रहा है कहीं लौट जाने को। कितना धीरे चलती है शकुन्तला ? चींटी की चाल ? तो भी अब तक आ जाना चाहिये था। शकुन्तला है भी खूब ! आज उसे पिक्चर जाने का मन हुआ ? हो सका ?

हो सकता है, अशान्त मन को कुछ देर के लिये बहलाने के इरादे से गई हो। ठीक उसी तरह जैसे अपने अशान्त मन को बहलाने, संयत करने पराशर दौड़ कर श्यामबजार चला गया था। सोचा था उस मकान के छत पर बनी कोठरी उसे पनाह देगी, उसकी चोटों को सहलायेगी।

सोचते-सोचते पराशर मकान तक पहुँच गया। अरे यह क्या ? दरवाजा खुला क्यों है ?

वाह रे लोग ! पिक्चर का इतना शौक कि मियाँ बीवी घर खुला छोड़ कर पिक्चर देखने जा पहुँचे हैं ! रात के नौ से बारह का शो। पड़ोस में एक चोर भी

रहता है। सभी जानते हैं, ऐसे मौके को वह कभी हाथ से निकलने न देगा। कही ऐसा तो नहीं कि घर बन्द देख चोर ने ही सब सफाया कर घर खुला छोड़ दिया है ?

चलते-चलते रुकना पड़ा पराशर को।

किवाड़ के चौखटे से लगी खड़ी है शकुन्तला।

'अरे आप यहाँ ? किधर से आईं ?' उसे इस तरह खड़ी देख पराशर का दिल इतने जोरों से धड़कने लगा कि उसे जो सूझा वही कह डालना पड़ा।

दो कदम पीछे हट कर शकुन्तला ने तीखेपन से कहा, 'आई ? आई से मतलब ?'

'मतलब ? मतलब यह कि आप तो पिक्चर गई थी न ?'

'पिक्चर ?'

'हाँ। सूचना तो कुछ ऐसी ही मिली मुझे।'

राह रोक कर शकुन्तला तन कर खड़ी हो गई। 'सूचना मिली आपको ? ऐसी सूचना भला किसने दी, जरा मैं भी तो सुनूँ।'

'देता कौन ? और जो लोग गये थे उन्होने ही दी। अरे, वही जो आपकी छवि न है, क्या उसका नाम—'

''न क्या है कहने की जरूरत नही। आप उसे ठीक ही पहचानते हैं। अच्छा, तो उन्ही ने आपको बीच रास्ते मे रोका था। इतनी दूर से साफ-साफ पहचान तो न पाई थी लेकिन मेरा अनुमान कुछ ऐसा ही था। बड़ी बेशर्म है वह छोकरी। इतनी रात गये—सड़क चलते !-छि : !'

अफसोस इस बात का है कि उस वक्त उस जगह ऐसा कोई था नहीं कि शकुन्तला से पूछता कि शर्म-हया के मामलों में वह इतनी जागरूक कब से हो गई। यह जो वह खुद, रात की निर्जनता में, पराये मर्द के इतने करीब खड़ी है कि उसकी साँसों से पराशर का बटन खुला कुर्ता काँप-काँप उठ रहा है, क्या यह शर्म-हया का निदर्शन है ? और यह जो पराशर की साँसों से उसके माथे पर बिखरे बाल उड़ रहे हैं, यह ? क्या है यह, इसको क्या कहा जायेगा ?

लेकिन नही, कोई नही था पूछने वाला। अतः शकुन्तला का साहस और बढ़ा। बोली, 'इतनी जल्दी छुटकारा कैसे मिला ?' उसके स्वर का व्यंग्य तीर-सा बीध गया पराशर को।

व्यंग्य पर नारी का ही एकाधिकार नहीं। पुरुष भी उसका प्रयोग करते हैं। वक्त जरूरत उनकी बातों की आड़ से भी उसकी नोंक चमक जाती है। पराशर ने मौका पा कर कहा, 'देख तो रहा हूँ कि मिल गया है छुटकारा ! वैसे छुटकारा मिलने की बात नही थी। महिलाओं के चंगुल से मुक्ति पाना बेशक आश्चर्य की बात है !'

'क्या ? क्या बोले आप ?'

'कोई खास बात नहीं। ऐसे ही एक साधारण बात।'

'हाँ, क्यों नहीं। आप लोगों के लिये सभी बातें मात्र साधारण ही होती हैं। क्या इसीलिये आप दोनों दोस्तों ने मिल कर मेरे अपमान की साजिश की ?'

तेज चलती साँसें और तेज होती हैं। इतनी तेज कि काँप-काँप उठता है उसका आँचल, उसका वक्ष। सारे शरीर का रक्त मुँह पर आ जुटा है, लगता है अब फूटा तब फूटा। आँखों की दृष्टि अस्वाभाविक रूप से तीव्र और उज्ज्वल।

करीब। बिल्कुल करीब। करीब-करीब सीने से सटी हुई।

शायद सचेतन हो, शायद बिना सोचे, पराशर चार-छह कदम पीछे हट जाता है। अपने को यथासम्भव संयत कर कहता है, 'क्या मुसीबत है यह! नाहक आपको अपमान करने की बात भी कहाँ से उठा लाईं ? क्यों करने लगे हम आपका अपमान ? और इस महान् कार्य के सम्पादन के लिये दोस्त कहाँ मिला मुझे सहायता करने के लिये ? कहाँ है सन्तोष ? सो गया ?'

'मतलब आपका ? आपको मालूम नहीं है कि कहाँ है वह ? वह तो आज अभी तक दफ्तर से ही नहीं आये।'

'आफिस से नहीं लौटा ?' विचलित हो पराशर ने कहा, 'मगर आपकी छवि तो कह रही थी, 'सन्तोष भाई लोगों को सिनेमा में देखा !' बड़ी विचित्र बात है। वैसे, आपको यहाँ देख मुझे ख्याल आया, कहीं ऐसा तो नहीं कि पिक्चर देखने वह अकेला ही चला गया। अजीब माजरा है !'

'कुछ भी अजीब नहीं, बातों का सिलसिला लम्बा करने के इरादे से औरतें काफी कुछ अजीब बातें कह डालती हैं।'

'चलो, बात बनी। अब तक लेखक-पाठक समाज में पराशर राय नारी मनो-विज्ञान का अच्छा जानकार माना जाता था। आज उसकी वह ख्याति धूल चाट रही है। जो भी हो, मगर इस सन्तोष के बच्चे ने बड़ा झमेला किया। काफी देर हो चुकी है। उसकी तलाश करना जरूरी हो गया। जाऊँ देखूँ, कहाँ पता मिलता है·····' कह पराशर पलट कर जैसे ही चलने को हुआ कि शकुन्तला ने उसके कुर्ते का छोर पकड़ लिया। फुँफकार कर बोली; 'कहाँ जायेंगे तलाशने ? वह तो, मुझे नीचा दिखाने के लिये, जान-बूझ कर कहीं छिपा है।'

यह बात है। अब समझा पराशर कि आज शकुन्तला इतनी उत्तेजित क्यों है। क्या कारण है उसका इतना बिफरने का। सरे-शाम से इतनी रात गये तक घर में अकेली थी। एकान्त में रहते-रहते उसने अपमान वगैरह की दलीलें खड़ी कीं और तिलमिलाती रही। यह अगर किसी और दिन की घटना होती, पहले की बात होती तो अब तक रो-रो कर बेहाल हो गई होती वह। आज का दिन कुछ और ढंग का है, इसलिये उसकी सारी चिन्तायें उल्टी-सीधी राह में बह रही हैं।

धीरे से कुर्ते का छोर छुड़वाते हुये पराशर ने अति संजीदगी से कहा, 'पागल-पन का वक्त नहीं यह। जानती तो हैं कलकत्ते की सड़कों पर कितनी-कितनी मुसीबतें आ सकती हैं।'

'मुसीबत ? कैसी मुसीबत ?' शकुन्तला का रंग फक होता है। सोते से जाग कर उठी हो ऐसे चौंक कर अस्त-व्यस्त कपड़ों को ठीक करने लगती है।

'दरवाजा बन्द कर लीजिये। मैं जरा पता लगाऊँ।'

'इतनी रात गये कहाँ पता लगाने जायेंगे आप ?'

'थाने में, अस्पतालों में.....।'

चीख निकल पडती है शकुन्तला की। चीख के निकलने के साथ ही पराशर के पीछे वाले भिड़काये किवाड़ के पल्लों को खोलता अन्दर दाखिल होता है सन्तोष। व्यंग्य से कहता है, 'लग रहा है यहाँ किसी नाटक का रस-घन दृश्य चल रहा है !'

गुस्सा आना ही स्वाभाविक था। एक तो जिसके लिये चिन्ता से अधमरा हो अस्पतालों और थाने में जा रहा था, उसे सही-सलामत देखते ही गुस्सा उबल पड़ता है, और फिर वह अगर व्यंग्य करे, तो कैसा लगता है ?

उत्तेजना से काँपते हुए पराशर ने एक काम ऐसा किया जो उसके प्रकृति-विरुद्ध है। मुड़ कर सन्तोष को कन्धों से पकड़ ऐसा झकझोरा कि उसकी हड्डियाँ चरमरा गईं। कहने लगा, 'कहाँ था अब तक बे, अभागे ?'

मुस्कराया सन्तोष। बोला, 'खास कहीं नहीं। बस, यही समझ ले, अभागे जहाँ रहते हैं, वहीं यानी सड़कों पर।'

'सरे शाम से इतनी रात तक सड़कों की लम्बाई नापता रहा तू ?'

'नहीं, सारा वक्त नहीं।'

'सिनेमा देखने नहीं गया था ?'

'गया था। कुछ वक्त उसमें भी निकला। मगर बताया किसने ?'

'किसी ने भी बताया हो। लेकिन एकाएक वक्त काटने के साधनों की तलाश क्यों कर रहे थे तुम ?'

'बता नहीं सकता। दफ्तर से निकल घर आ रहा था। घर के करीब आ, न जाने क्यों, घर आने का मन नहीं हुआ। वापस लौट पड़ा। इधर-उधर चक्कर लगाता रहा। थक कर जब लौटने लगा तब देखा 'रंगलोक' के सामने खूब भीड़ है। मैं भी चला गया।'

'बहुत अच्छा किया। लेकिन शो खत्म हुये भी तो काफी देर हो गई।'

'सो तो हुई। असल में मैं अब तक इसी विचार में था कि एक रात पार्क की बेंच पर बिताई जाये तो कैसा हो। इसी सोच-विचार मे देर हो गई।'

'कमाल है ! मेरे विचार में नाटक अपने क्लाइमैक्स पर पहुँच चुका है, अब पर्दा गिराना आवश्यक है।'

'मतलब ?'

'मतलब तुम्हारी समझ में ठीक ही आ गया है। जो भी हो, मैं तुम्हारी तरह पार्क में रात बिताने की योजना में रात नहीं काटूंगा। मुझे नींद लगी है, मैं सोने चला। लेकिन साफ जान लो, जो हो चुका, हो चुका। बस, अब आगे नहीं।'

पराशर चला गया। विषण्ण दृष्टि से उसका जाना देखता रहा सन्तोष। पराशर जब अपने कमरे में चला गया तब सन्तोष अपने कमरे की ओर बढ़ा। चलते वक्त उसका साहस न हुआ कि शकुन्तला को बुला ले। कमरे में पाँव रख उसे लगा कि यह उसने ठीक नहीं किया। उसके इस कार्य ने एक अनिश्चित संशय को उभाड़ कर उसे एक निश्चित सत्य ही नहीं बनाया, साथ ही उसने अपने को बहुत खोटा, बहुत ओछा कर डाला है।

क्या शकुन्तला अपने कमरे में नहीं जायेगी ?

क्या वह सारी रात सहन में पड़ी तिपाई पर ही बैठी रह जायेगी ?

रात के तीन बजे तक नींद न आई सन्तोष को।

रात के चार बजे तक सिगरेट पर सिगरेट फूँकता रहा पराशर।

तिपाई पर बैठी शकुन्तला पौ फूटने के वक्त धरती पर लोट कर सो गई।

रात के तीन बजे तक बिस्तरे पर करवटें बदलता रहा सन्तोष और सोचता रहा, यह सब कुछ न हुआ होता तो कितना अच्छा होता ! पति-पत्नी मे मतभेद तो होता ही रहता है, फिर समझौता भी हो जाता है। उसे याद आती है अपने दादा की बात। देखा तो नहीं, पर सुना था उसने कि उन सज्जन का ख्याल था कि इस जग में जितने पुरुष हैं सभी उनकी पत्नी की कृपा के भिखारी हैं। साथ ही, पत्नी भी, उन सबों पर कृपा लुटाती फिरती है। इस अन्तर्दाह से पीड़ित हो वे अपनी पत्नी पर डण्डे बरसा अपने दिल की भड़ास निकालते और गुमराह पत्नी को राह पर लाने का प्रयास भी करते। एक तरफ यह, दूसरी तरफ दादा-दादी के आदर्श प्रेम की कहानियाँ दूसरों को दृष्टान्त-स्वरूप सुनाई जाती थी।

अगर यह स्वाभाविक था, तो फिर सन्तोष ने अगर गुस्से में आकर शकुन्तला को दो-चार खरी-खोटी सुनाई, तो क्या उसका अन्त समझौते मे नहीं हो सकता ? तो फिर आज की यह घटना क्यो घट गई ? यह जो आज महामूर्ख की तरह वह सड़कों पर आधी रात तक भटकता रहा, फिर घर आकर दोस्त के आगे अपने को नंगा किया, यह क्यों किया उसने ? क्यो किया शकुन्तला का अपमान ?

लानत है ! लानत है उस पर ! काश ! यह सब कुछ भी न हुआ होता !

सिगरेट फूंक-फूंक धुंयें की भरमार करता पराशर क्या सोच रहा था ?

सोच रहा था, अगर उसको इस प्लाट का कोई उपन्यास लिखना होता तो उसकी गति किस ओर होती ? क्या होता उसका अन्त ? हाँ, बता सकता है वह, उसकी कलम से इस उपन्यास का कैसा अन्त होता।

पराशर राय जीवन के आदिम सत्य मे विश्वास रखता है। समाज के बनावटी सत्य में नहीं।

और शकुन्तला ?

वह तो कुछ और ही सोच रही थी।

वह सोच रही थी कि अगर आज सन्तोष की नई इच्छा यानी पार्क की बेंच पर रात बिताने की इच्छा पूरी हुई होती, तो फिर आज की रात क्या होता ? क्या-क्या हो सकता था उस हालत में ? और कुछ वक्त तक अगर वह न आता तो शकुन्तला अवश्य ही अत्यन्त व्याकुल होती और उसकी व्याकुलता को शान्त करने के लिये उपस्थित व्यक्ति किस हद तक व्याकुल होता ? थाने से थाना, अस्पताल से अस्पताल भागा फिरता ?

कैसे जाता ?

अगर शकुन्तला मारे खौफ के, मारे चिन्ता के अगर बेहोश हो जाती ?

रोते-रोते बेहाल हो अगर दौरे पड़ने लगते ?

उसे इस हालत में छोड़, घर-द्वार खुला रख कैसे जाता वह दोस्त को तलाशने ?

यह नहीं हो सकता।

अतः क्या-क्या हो सकता था, उसकी मधुर कल्पना में शकुन्तला की रात बीती थी। इसे चिन्ता का विलास कहा जा सकता है। कहा जा सकता है नारी-मन का स्वधर्म।

रोग में, शोक में, दुःख में, विपदा में उसका एकमात्र सुख आत्म-विकास में है। चाहे जैसे हो, अपने को प्रामिनेण्ट साबित करने में ही उसकी प्रकृति की तृप्ति होती है। अपने को दुखियारी के रूप में प्रकट करने में ही उसकी खुशी है।

इसीलिये, ऐसी मोहन चिन्ता में विभोर शकुन्तला को लगा कि लौट कर सन्तोष ने उसका बहुत भयंकर नुकसान किया है। उसे लगा कि मधुर-मोहक पेय द्रव्य के गिलास को उससे छीन कर धरती पर सन्तोष ने ठीक उसी क्षण दे मारा है जब कि वह उसे अपने प्यासे होठों से लगाने ही वाली थी।

इस संसार पर कौन-सा कहर टूटता, अगर एक रात सन्तोष पार्क की बेंच पर काट ही देता ?

सन्तोष के बदले शकुन्तला।

पार्क की बेंच पर न सही, तिपाई पर बैठ, खिड़की की रेलिंग पकड़, रात काटी शकुन्तला ने। और फिर रात जब पूरी हो चली, धरती पर लेट गई। यह भी यों ही थक कर नहीं, एक विचित्र इच्छा के वशीभूत होकर। दोनों कमरों का एक-एक किवाड़ इस सहन में खुलता है। सुबह उठ कर अगर बाग की ओर या बाथरूम जाना हो, कहीं जाना नहीं भी हो, तो भी कमरे का किवाड़ खोल अगर बाहर आना हो, वह अवश्य ही दिखाई पड़ेगी, इसलिये बासी फूलों की शिथिल माला-सी भंगिमा में शकुन्तला फर्श पर पड़ी रही।

दिखाई पड़ेगी ही। इसका कोई विकल्प है ही नहीं।

जो भी पहले उठेगा, कमरे के बाहर पाँव रखते ही उसे रुक जाना पड़ेगा।

और रुक जाने के बाद ?

क्या देखने वाले के मन में जरा-सी करुणा या सहानुभूति जागेगी नहीं ?

यह जो वह पाँव मोड़े, एक बाँह फैलाये, दूसरी सीने से लगाये करवट लिये पड़ी है, फैली बाँह और पाँवों के तलुवों का कोमल लावण्य, खुले जूड़े के बिखरे केशों का कारुण्य, गालों पर नमकीन आँसुओं की क्षीण धारा की रेखा की माधुरी, बुझी आँखों के कोरों से ढुलकता आँसू का एक मोती—सारा एकत्रित किया जाये तो कौन नहीं मानेगा कि यह है करुण लावण्य का जीता-जागता चित्र। है ऐसा कठोर दिल वाला पुरुष कहीं, जिसका यह देख, दिल भर न आयेगा ?

अगर सन्तोष देखे तो क्या वह भूल न जायेगा कि पिछले दिन शकुन्तला ने उसे कैसी जली-कटी सुनाई थी ? पिछली बात भूल ममता की उमड़ती बाढ़ में बहता क्या वह बाँहों में भर शकुन्तला को कमरे में उठा नहीं ले जायेगा ? बड़े स्नेह से उसे पलंग पर लिटा नहीं देगा ले जाकर ?

हाँ, अगर सन्तोष देखे।

अगर सन्तोष पहले उठे।

और ?

और अगर परात्पर····?

भोर के नीम अन्धेरे में कमरा खोलते ही अगर उसे धरती पर लोटता यह लावण्य-पुंज दिखाई पड़े ?

तो क्या, अधिक न सही, क्षण भर के लिये ही सही, आत्मविस्मृत नहीं हो सकता वह ?

पल भर के लिये भी नहीं भूल सकता कि शकुन्तला उसके मित्र की पत्नी है ?

प्रिया, प्रेयसी, प्रेमपात्री—यह जो शब्द हैं, क्या इनकी सृष्टि केवल कदर्थ की व्यंजना के लिये ही हुई थी ?

अद्भुत तो यह है कि यही बात सोच कर हैरत से भर गया परात्पर। सोचा, भाषा में प्रिया, प्रियतमा जैसे शब्दों की संरचना हुई क्यों है ? रात को चार बजे तक बैठा रहा वह। फिर लेटा था। उठ भी गया था फौरन ही, और कमरा खोलते ही धक् रह गया उसका दिल। शकुन्तला उस समय तक गहरी नींद की स्थिति तक नहीं पहुँची थी। तभी भी साँस हल्की नहीं हुई थी, आँसू का एक बूँद तभी भी बाईं आँख की कोर में टलमला रहा था।

दुःख और क्षोभ की इस प्रतिमा को कुछ देर हतवाक् होकर देखता रहा परात्पर। देखते-देखते उसके मन में एक अजीब-सी भावना जागी। क्यों उसका मन अपने को अपराधी मान रहा है ? क्यों तुला है वह अपने को दण्ड देने पर ?

प्रेम अगर गलत काम है तो अनादि काल से उसका जयगान क्यों होता आया है ? प्रिया शब्द अश्लील है क्या ?

प्रेम का अर्थ असंयम है क्या ?

शिक्षा, सभ्यता, शालीनता, रुचिबोध, क्या यह सब मात्र मिट्टी के पुतले हैं ?

दिल पर शासन कर सधे कदमों से पराशर वापस अपने कमरे में गया, बिस्तर पर से तकिया उठाया, करीब आ, बहुत ही सावधानी और बहुत ही ममत्व से धरती पर लेटी क्षुब्धा अभिमानिनी का सिर उस तकिये पर रखा। बड़े ही स्नेह से माथे पर बिखर आये केशों को सहला कर सलटा दिया। आंचल खींच ठण्डे से सिकुड़े पाँवों को ढंक दिया, और, ईश्वर जानते हैं क्यों, उठ कर चलते-चलते सिर घुमा एक निगाह डाली दूसरी तरफ से खुलने वाले किवाड़ पर।

उस दरवाजे की ओर, भोर के झुटपुटे में अपने कमरे से निकलते वक्त, जिस दरवाजे के खुले पल्ले पर पड़े पर्दे की आड़ में, पलंग की बाजू का एक हिस्सा जहाँ से दिखाई पड़ रहा था।

चलते वक्त मगर खाट की बाजू का एक हिस्सा नहीं, पथराया हुआ एक व्यक्ति था दरवाजे के चौखटे पर। गर्दन फिरा देखते ही नजरों का मिलना हुआ। कैसे न मिलती नजरें ? बुत बने उस व्यक्ति की सारी चेतना ही तो समाई थी उसकी आँखों में !

झन-झन-झन !

तेजी से बर्तनों की उठा-पटक करती रही चन्दना। पानी भरने, बाल्टी उठाने-धरने, आँगन में झाड़ू लगाने में भरसक शोर करती रही वह। तीन-चार घरों में काम करती है वह। उसे ख्याल है कि जितने अधिक तेजी से हाथ-पाँव चलायेगी, काम उतनी ही जल्दी आगे बढ़ेगा। चन्दना ऐसा रोज ही करती है और इतने अनावश्यक शोर-गुल के कारण रोज ही शकुन्तला की फटकार सुनती है। आज सुबह जब वह अपनी उठा-पटक करती रही तब उसे बड़ी हैरत हुई यह देख कर कि और दिनों से ज्यादा शोर होने के बावजूद शकुन्तला ने डाँटा नहीं। डाँटा ही नहीं, कहीं दिखाई भी नहीं पड़ी। मालकिन गई कहाँ ?

गायब मालकिन ही नहीं, मालिक भी हैं। और मालिक के दोस्त, उनका भी कहीं पता नहीं। सारे लोग आज सुबह-सुबह, चन्दना के लिये घर-द्वार खुला छोड़, हवा-खोरी को निकल गये क्या ?

अजीब बात है !

काम पूरा कर चलते वक्त चन्दना इधर-उधर देखने लगी। 'ए भाई, ई तो बड़ी आफत भई !' वह अब घर इस तरह खुला-फैला छोड़ कर जाये तो कैसे जाये ? चूल्हा सुलगा चुकी थी, वह भी बेकार ही जल रहा है।

इधर के कमरे, उधर के कमरे में झाँकती चन्दना अन्त में बाग में पहुँची। अरे,

मालकिन तो यहाँ पाँव फैलाये बैठी हैं ! लगता तो नहीं कि नहाई-धोई हैं, अभी तो बासी चोटी यों ही लटक रही है । यह कौन-सा ढंग है रे भाई ? और दिन तो इस वक्त फिरकी की तरह नाचती फिरती है मालकिन । खाना आधा बन चुका होता है ।

चन्दना में और जो भी गुण हों, नम्रता का लेशमात्र नहीं है । शकुन्तला के देखते ही हुँकारी, 'ऐ भाभी, हियन का करत हो ? चूल्हा तो जर-जर बुताये लगा, खाये के न बनी का ?'

जवाब नहीं दिया भाभी ने ।

चन्दना जरा सहम गई । कुछ धीरे से बोली, 'का बात है भाभी ? जी तो ठीक है न तोहार ?'

अबकी शकुन्तला ने खिसिया कर जवाब दिया, 'तबीयत खराब क्यों होने लगी मेरी ? बिल्कुल ठीक है ।'

'दैया रे ! तबीयत ठीक है तब मूरत बनी हियन काहे बैठी हो ? भैया लोगन दफ्तर न जैईहो का ?'

'नहीं ।'

'अरे मोरी माई ! काहे ? कौनों छुट्टी बा का ?'

'मालूम नहीं ।'

'पिछवाड़े वाले घर की मालकिन तो छुट्टी की बतिया नाहीं कहेन । बल्के चूल्हा धराये में तनी बेर भई तो दस ठे बात सुनाइन । जाये मरे । छुट्टी हईओ है तो का ? दफ्तर के होई, पेट के छुट्टी तो कबौ नाहीं होत, चलो चल के कुछ बनावो, और हमैं पईसा देवो, बजार जाई ।'

'बाजार नहीं जाना है । तुम्हारा काम हो चुका हो तो तुम जाओ ।'

'अरे बाप ! इत्ता गुस्सा ! काहे न जाये होई बजार भाभी ? नैउते जाबू का ?'

'तुम जाओगी ?'

'अरे मोर बपई ! ई तो आज फौजी लाट भई हैं । जाब न तो का तोहरे घरे दिन भर बैठी रहब ? रहै से हमार पेट भरी ? ई बतावा, दरवाजा के बन्द करी ? तू हियाँ हो, बाबू दुनौ कतऔ दिखऊतेन नाहीं ।'

'रहने दो दरवाजा खुला । तुम फिक्र न करो ।'

शकुन्तला के इस रूखे व्यवहार से चन्दना बहुत ही आहत हुई । बड़बड़ाती हुई चली गई । दरवाजा जहाँ तक सम्भव था, जोरों से बन्द करती गई । 'कईओ दिन से मालकिन के मिजाज बिगड़ा है । है तो होई । मनसेदू से भगरा भवा तो हम का करी ? केहूके मिजाज हमसे बरदास नाहीं होत । काहे क बरदास करी ? काम करावा, पईसा दे, हम अपने घरे के, तू अपने घरे के । मनसेदू से भगरा होई न का होई ! उई दुसर मरदवा क मई दुनिया भर के हँसी-ठिठोली ! राम-धम ! मालिको के अकिल पै पत्थर परी गै बा । दू जने की गिरिस्ती में एक तीसर मुसण्डा घुमावै के कवन जरूरत रही ?'

इस इलाके के तीन-चार, लगे-सटे मकानों में काम करती है चन्दना। यहाँ से जो बड़बड़ाती चली तो अगले मकान तक उसकी बड़बड़ाहट न रुकी। छवि के घर कपड़े धोते-धोते छवि को बुला कर वह शिकायत करने लगी, 'ऐ बिटिआ, तनी सुना। ई जो लाल कोठी वाली हैन, अरे उहै जेसे तोहार बहुत आवब-जाब है, उन्हैं का भवा है? जानत हो कछु?'

नाराज होकर छवि बोली, 'बहुत आना-जाना कब देखा तुमने?'

'अरे गुस्सात हौ गोइयाँ! आवत-जात तो रहतै हौ, का हम नाही जानित? हुआँ के कमवा पूरा कर आयों, अबे तलुक न नहाइन न कुछ। खाये के बनावे के कवन कहे! बगिया मे मुँहना फुलाये बैठी हन। कहा बजार के पइसा दै देओ, सौदा सुलुक लई आई, तवन हमैं काटै दौड़ाईन। बाबू दूनौ कतो ग हैं, घरे माँ कवनो नाही।'

छवि ने इस 'ताजा खबर' पर विशेष ध्यान न दिया। लापरवाही से बोली, 'गये होंगे कहीं। अभी पिछली रात तो दोनों से ही मुलाकात हुई थी। सन्तोष भाई तो सिनेमा हाल मे ही दिखाई पड़े थे।'

'आई मोरी मैया! मैं कहों की का होये गई रे माई। कहाँ चले गयेंन दूनो जने। एक बात मगर कहब, चाहे मानौ चाहे न। मालकिन के जरूर कुछ भवा है। उनकर ढंग आज ठीक नाही। उन्हैं देखके हमैं नाही लागत कि आज उठिहैं कि खाये के बनइहैं।'

'तो क्या हुआ? इस चिन्ता में तुम क्यों दुबली हुई जा रही हो?' चिढ़ कर छवि बोली और जाने लगी। चन्दना से छुटकारा मिला छवि को पर अपनी माँ से नही। पीछे ही पड़ गईं वे। 'जा न छवि, देख न जाकर कि क्या हो गया उसे। दुल्हन बीमार तो नही हो गई? जाकर पूछ, कुछ चाहिये कि नही।'

'माँ, तुम भी अजीब हो! क्यों जाऊँ? पूछूँ भी क्या? जाने भी दो।'

मगर महिला निरस्त न हुई। होती भी कैसे? मारे कौतूहल के उनके पेट मे तो खलबली मची थी।

'अरे तो क्या हुआ? हाल पूछने नहीं जाना चाहती, तो तुलसी की पत्ती लेने के बहाने ही चली जा न एक बार। पता तो लगा कि उसको क्या हो गया?'

'जान कर तुम्हें कौन-सी मुराद मिलेगी माँ?'

'मुराद मिलने-खोने की बात कहाँ से आई रे? पड़ोसी का फर्ज है, पड़ोसी के दुःख-सुख मे साथ देना। अगर चली जायेगी तो क्या बिगड़ेगा तेरा? ऐसा भी क्या गुस्सा दिखाना!'

'बस माँ, अब बस करो। जा रही हूँ.....।'

दोनों सखियाँ! कितनी अन्तरंग, कितनी मिलनसार! एक दूसरे को कितना सुख होती थी। घण्टों साथ रहतीं, बोलती-बतिय ती।

और आज? एक आई चिढ़ती-खिसियाती। दूसरी उसे देखते-ही जल-भुन गई।

यही छवि!

यह छवि ही है सारी परेशानी का मूल। सुबह से शकुन्तला इसी खोज-बीन में लगी थी। कब, किस दिन किस कारण उसके संगीत और कवितामय जीवन का लय टूटा, कब हुआ छन्द-पतन? कौन-सी घटना थी जिससे सिंहासन से खींच गिरायी गई वह? महारानी भिखारिनी बन गई। नकाब किस दिन उतरा? सोचते-सोचते बहुत दूर चली गई थी शकुन्तला, पर तह नहीं मिली थी उसे। अचानक याद आई उसे उस दोपहर की। उस कहर की दोपहर की, जिस दोपहर को वह छवि को पराशर से मिलाने ले गई थी।

जिसे अब तक वह नितान्त बालिका समझती आ रही थी, उसी में उसने उस दिन देखा था यौवन की उद्दामता। तभी न शकुन्तला···

हाँ, सच है। उस दिन छवि से ईर्ष्या हुई थी उसे और वह ईर्ष्या लगातार बढ़ती ही चली जा रही थी। हो भी क्यों न? शकुन्तला के चारों ओर तो समाज ने गृहस्थी की अभेद्य लक्ष्मण-रेखा खींच दी है, जबकि छवि को आकाश की पूरी स्वच्छन्दता प्राप्त है। शकुन्तला की सारी संभावनाओं का अन्त हो गया है, जबकि छवि के आगे संभावना ही संभावना है।

शकुन्तला की लेखा की कापी में अब जमा कुछ न होगा, केवल खर्चों का ब्योरा ही लिखा जायेगा, जब कि छवि का लेखा-जोखा केवल जमा-पूँजी का होगा।

इस स्थिति में अगर शकुन्तला ने छवि से ईर्ष्या की तो बहुत ठीक किया।

आत्मपक्ष के इस समर्थन के क्षण में छवि आविर्भूत हुई।

जितना सिकोड़ना मुमकिन है, भौंहों को उतना सिकोड़ कर शकुन्तला ने छवि से निगाह मिलाई। भगवान् की बड़ी कृपा है कि कलियुग में अग्नि-दृष्टि से भस्मीभूत नहीं किया जा सकता।

सहज होने का विफल प्रयास करती छवि बोली, 'भाभी, माँ ने तुलसी की पत्ती मँगाई है।'

'तुलसी की पत्ती?' भौंहों का तनाव और कठोर हुआ।

'हाँ, माँ ने कहा।'

वैसे तुलसी की झाड़ी सामने ही थी, हाथ बढ़ाते ही पत्ती मिल सकती, पर मालिक जब सामने हो तो पूछ लेना जरूरी होता है।

रुखाई से शकुन्तला ने पूछा, 'कौन-सी पूजा है आज?'

'पता नहीं।'

शकुन्तला सौजन्य, सौम्यता आदि सारी सामाजिकता भूल एकबारगी चीख पड़ी, 'देखो छवि, मुझे झाँसा देने की कोशिश मत करो। तुम्हारी चालबाजी न समझूँ, मैं न इतनी नादान हूँ, न इतनी मूर्ख। जरूरत तुम्हें तुलसी की पत्ती की नहीं, स्वयं

नारायण की है। खूब समझती हूँ। रात के बारह बजे चौराहे पर रोक कर बतियाई। उससे जी न भरा, पौ फूटते ही तुलसी की पत्ती का बहाना बना फिर दौड़ी आई हो। पर आज तुम्हारी मनोकामना पूरी नहीं हो सकेगी। वह नहीं है।'

इस निम्नकोटि के आक्रमण के लिये छवि प्रस्तुत न थी, इसलिये पहले तो हक् रह गई। फिर क्रोध और क्षोभ से उसका मुख सुर्ख लाल हो गया। गुस्सा माँ पर तो आया ही, अपने पर भी आया। क्यों आई वह? जरूरत क्या थी सुबह-सुबह यहाँ आने की?

अपमान की ज्वाला में जब आत्मग्लानि आ जुड़ती है तब उसका दाह सबसे अधिक होता है। इस कारण छवि भी मुख नहीं मोड़ती। डट कर सामना करती है वह। और करे भी क्यों न? वह भी तो औरत ही है। साँप नहीं तो सपोलिया तो है ही!

जरा संभलते ही छवि बोली, 'सभी को अपनी-सी मत सोच लीजियेगा।'

'क्या? क्या बोली तू?'

'मैंने जो कहा साफ ही कहा। आपको सुनाई न पड़ा हो, ऐसा भी नहीं। इसी कारण फिर कह रही हूँ कि सारी दुनिया आप-सी लालची नहीं। फर्क इतना ही है कि अपनी शक्ल किसी को दिखाई नहीं देती।'

शकुन्तला को धूल चटाती, चप्पल फटफटाती चली जाती है छवि। क्यों न चटाये उसे धूल? क्या छवि नहीं जानती कि संसार की दृष्टि में शकुन्तला चुक गई है? बट्टे खाते में लिख गई है? साथ ही, उसका अपना ऐश्वर्य लबालब भरा है।

छवि चली जाती है।

मारे लज्जा के शकुन्तला का मन होता है, उस जगह से कहीं दूर, बहुत दूर भाग जाये। भागना पड़ेगा ···अवश्य भागना पड़ेगा। दूर···बहुत दूर। यहाँ अब शकुन्तला नहीं रह सकती। कारण यहाँ के लोगों ने शकुन्तला की चोरी पकड़ ली है। उसकी शोचनीय दुर्बलता की कहानी अब किसी से छिपी नहीं।

इन लोगों के सामने शकुन्तला अब सीधी खड़ी नहीं हो सकती।

चलते-चलते छवि यह क्या कर गई?

क्या उसने शकुन्तला पर थूका? पत्थर फेंका?

अरे नहीं! ऐसा भी कभी हो सकता है!

तो फिर उसका मुँह-माथा इतना जल क्यों रहा है? बार-बार पोंछने से भी जलन कम क्यों नहीं होती?

अरे हाँ, धूप भी तो चढ़ी है खूब! दोपहर की प्रचण्ड धूप जला रही है उसके मुख को, माथे को।

बाग से उठी। सहन में आई शकुन्तला।

सहन?

पिछली रात तो यहीं सोई थी वह? यहीं से अधमुँदी आँखों से सन्तोष को

और उसके दोस्त को देखा था। फिर क्या हुआ ? कब गया सन्तोष ? कब चला गया उसका दोस्त ? धरती से मुँह सटाये पड़ी थी शकुन्तला। उसे तो किसी ने बुलाया तक नहीं।

फटी-फटी आँखों से शकुन्तला चारों ओर देखती रही। उसे लगा, इस घर को वह आज पहली बार देख रही है। आज उसे यह घर इतना अजनबी क्यों लग रहा है ? वह तो रोज ही दोपहर को इसी तरह अकेली ही रहती है, पर इस तरह डर तो कभी नहीं लगता।

आँगन में आग-सी बरस रही है धूप। गर्म हवा के झोंके सहन तक आ-आ झुलसा रहे हैं।

खाने वाला कमरा धूल-गर्द से अटा पड़ा है। रसोई का इन्तजाम-विहीन चौका, सराय के चौके से भी अपरिचित।

बड़ी अजीब बात है। एक वक्त अगर घर-गृहस्थी का नाटक धीमा पड़ जाये तो परिवेश इतना बदल जाता है ? भुतहा-सा लगने लगता है अपना प्रिय परिचित घर-द्वार ?

शिथिल चरणों को घसीटती हुई वह बाहर वाले कमरे में आई। वही कमरा जिसे मेहमान की सेवा के लिये सजाया था।

कुँआर की तपती दोपहर। खिड़कियाँ खुली हैं। सड़क पर जहाँ ईंटें तोड़ी जा रही हैं, वहाँ से हवा मुट्ठी-मुट्ठी गर्द ला कमरे में फैला रही है। कमरे में पाँव रखते ही जड़ हो गई शकुन्तला।

ओफ ! कितनी निस्सीम है यहाँ की शून्यता !

शून्यता की इस प्रचण्डता ने झकझोर दिया शकुन्तला को। मगर किस बात की शून्यता ? यही तो न कि जो दो-चार कपड़े अलगनी पर लटकते रहते थे, वह अब वहाँ नहीं हैं। यही न कि फर्श पर थोड़ी सी जगह घेर कर जो दो सूटकेस रहते थे, वे अब नहीं हैं। इसके अलावा और तो जो कुछ था, अब भी मौजूद है। उसी तरह रखा है।

फिर ?

फिर क्यों वह इस बात का विश्वास नहीं कर पा रही कि वह जो इस कमरे में रहता था फिर आयेगा, फिर बैठेगा इस कुर्सी पर, क्यों नहीं सोच पा रही है कि खुली खिड़की से आती हवा से उड़ती कापी को सिगरेट केस से दबा पन्ने पर पन्ना लिखेगा वह ?

सिगरेट की खाली डिब्बियाँ तो अभी भी रखी हैं खिड़की पर। मेज के नीचे रखी है, पर में पहनने वाली हवाई चप्पल। पलंग के नीचे लोट रहे हैं दो-तीन मैले रुमाल।

हमेशा-हमेशा के लिये जो विदाई होनी है, क्या वह ऐसी ही होती है ?

या शायद हमेशा-हमेशा के लिये ली विदाई की शक्ल ही ऐसी होती है। हर वक्त के इस्तेमाल की हर चीज अपनी जगह पर मौजूद रहती है। हर चीज पर इस्तेमाल करने वाले के व्यक्तित्व का, उपस्थिति का निशान! बार-बार भान होता है, वह अभी आता ही होगा। आते ही कहेगा, 'माजरा क्या है? मेरी चीजों की यह हालत कैसे हो गई?'

भान जरूर होता है पर आता कभी नहीं।

पराशर भी अब कभी नहीं आयेगा। शकुन्तला को पूरा विश्वास है। वह जानती है कि उसके जीवन से पराशर का विलोप मृत्यु के विलोप के समान अमोघ और भीषण है। यह मात्र शकुन्तला की आशंका नहीं, प्रमाणित सत्य है। एक लाइन मात्र। पढ़ते-पढ़ते कण्ठस्थ हो गया है, शकुन्तला को। मुट्ठी खोल, हथेली में बन्द पसीने से तर कागज के उस टुकड़े को शकुन्तला ने एक बार फिर खोला। फिर पढ़ा। इस आशा से कि शायद अक्षरों की उस माला से कोई नया अर्थ झंकृत हो, कोई नई बात सामने आये।

बंगला में लिखा एक वाक्य—उससे अब कौन सा नया अर्थ मिलेगा? कौन से रहस्य का उद्घाटन होगा?

बस, इतना ही तो लिखा था उसमें!

'सन्तोष, तुम्हारी बात रख न सका, माफ करना। मैं चला। पराशर।'

बस, इतना ही। और कुछ भी नहीं।

मतलब यह कि उसे सिर्फ सन्तोष से ही कहना था, जो भी कहना था। विदा भी सिर्फ उसी से लेनी थी उसे।

शकुन्तला से पराशर को कुछ नहीं कहना था। सन्तोष को मगर उससे कुछ कहना था। दफ्तर का चपरासी उसके वक्तव्य को लिफाफे में भर कर ले आया दोपहर को।

दफ्तर का चपरासी आकर बाहर खड़ा इधर-उधर देख रहा था। बुत बनी, बैठी शकुन्तला उसे दिखाई तो पड़ रही थी पर उसकी दशा देख कुछ कहने का साहस नहीं जुटा पा रहा था बेचारा। अचानक शकुन्तला ने बाहर की ओर देखा। चपरासी ने मौका पाकर कहा, 'चिट्ठी है।'

मुँहबन्द सफेद लिफाफा। सन्तोष की लिखावट। बंगला अक्षरों में।

लिफाफा हाथ में लिये शकुन्तला की समझ में न आया कि कलकत्ते रहने आने के बाद से यह लिखावट उसने देखी है या नहीं। नीलमणिपुर सप्ताह में दो पोस्टकार्ड जाते हैं। उन्हें सन्तोष दफ्तर से लिख कर पोस्ट कर देता है। यदा-कदा, शकुन्तला सासजी को एकाध चिट्ठी डालती है, वह भी महज इसलिये कि बिल्टू उनके पास है। उन पत्रों में भी वह अपने अहंकार को भूलती नहीं, बिल्टू की बात ज्यादा पूछती नहीं। हद से हद पत्र के अन्तिम वाक्य के साथ जोड़ती है, 'आशा है, बिल्टू सकुशल है।'

इसके अलावा, इस परिवार में पत्राचार की कोई रीत नही। कोई किसी को पत्र नही लिखता। इसी कारण सन्तोष की लिखावट उसे अपरिचित-सी लगी। या ऐसा तो नही कि लिखते समय सन्तोष का हाथ कांप रहा था, इसी कारण लिखावट कुछ बदली-बदली सी है।

सन्तोष ने लिखा है, 'अचानक निर्णय ले कुछ दिनों की छुट्टी पर घर जा रहा हूँ। वक्त है नहीं, घण्टे भर मे गाड़ी छूटेगी, इसलिये विशद कुछ लिखने की फुर्सत नही। वैसे, उसकी इस वक्त जरूरत भी नही। घर जा रहा हूँ, जान कर घबराना मत, तुम पर पहरेदारी के लिये किसी को बुलाने नही जा रहा हूँ। वैसी इच्छा न कभी थी, न अब है। यह मैं तुम्हें सोचने का मौका देने के लिये कर रहा हूँ। आशा है इस मौके का लाभ उठा कर तुम अपनी मानसिक स्थिति का जायजा लोगी, अपने निर्णय पर पहुँचोगी। अगर तुम यही तय करो कि तुम मुझसे मुक्त होना ही चाहती तो मैं बाधा नही डालूंगा। साथ ही, यह भी नही चाहता कि तुम पर किसी किस्म की मुसीबत आये। तुम्हारे भैया से फोन पर बात की है। कहा है जरूरी काम से मैं घर जा रहा हूँ, तुम अकेली रह जाओगी। वे अवश्य ही तुम्हारा हाल पूछने आयेंगे। पराशर तो खैर है ही। जरूरत समझो तो चन्दना को कुछ पैसे और देकर दिन-रात के लिये रख लेना। इस महीने की तनख्वाह पूरी ही आलमारी के छोटे दराज मे रखी है, तुम्हे कोई तकलीफ नही होगी। मेरे हट जाने का एकमात्र कारण है, तुम्हें एकान्त मे सोच-समझ कर निर्णय लेने का मौका देना। इति—'

वाह रे पत्र! न सम्बोधन से शुरु, न हस्ताक्षर है अन्त में। सिर्फ कुछ थोड़े से निर्देश!

और साथ में कैसी भीषण अवहेलना।

शकुन्तला अगर मुक्त होना चाहती है, तो सन्तोष को मुक्ति देने में जरा भी एतराज नही होगा।

कठिन होने लगती हैं शकुन्तला के मुख की रेखायें। आँखें आग बरसाने लगती हैं। उसे निर्णय लेना होगा? अपना भाग्य आप ही बनाना होगा? अच्छा, ठीक है। ऐसा ही होगा!

पत्रवाहक खड़ा था। शकुन्तला ने पुकारा, 'ऐ भाई, सुनो।'

दो कदम आगे बढ़ा वह।

'तुम्हें पत्र दे साहब ने क्या किया?'

'जी, यह तो मैं बता नहीं सकता।'

'कहीं जाते देखा उन्हें?'

'जी, ठीक-ठीक मालूम नहीं।'

'खत देकर और कुछ कहा था?'

'जी नहीं।'

'अच्छा, ठीक है।'

जैसे ही चपरासी चलने को मुड़ा, शकुन्तला उठ खड़ी हो बोली, 'रुको। सुनते जाओ।'

दृष्टि में जिज्ञासा भर वह मुड़ा।

'मेरा एक खत एक जगह देते जाओगे ?'

'साहब को ?'

'नहीं, किसी और को। मैं पता लिख दूँगी। तुम पहचान कर जा तो सकोगे न ?'

यह तो मानी हुई बात है कि ऐसा विचित्र प्रस्ताव कोई भी मानने को तैयार न होता। चपरासी ने भी अत्यन्त नम्रता से कहा, 'जी, वक्त तो नहीं है।'

वक्त न हो तो वक्त निकालने का मंत्र फूँकना पड़ता है। वही मंत्र फूँकती है शकुन्तला। वह राजी हुआ। तब मेज के आगे बैठ उसने झटपट पत्र लिखा। पत्र और रुपये चपरासी को पकड़ा शकुन्तला ने अनुनय से कहा कि जितनी जल्दी हो सके वह पत्र को जगह पर पहुँचाये, नहीं तो शकुन्तला पर बड़ी मुसीबत आयेगी।

संसार के सारे बन्द किवाड़ खोलने की कुंजी ले, आश्वासन दे चला गया वह चपरासी, और शकुन्तला बैठी सोचती रही, यह क्या कर डाला उसने ?

पता जानती थी शकुन्तला, स्कूल कभी देखा न था उसने।

खत लिखने को लिख तो दिया, पर इसका अंजाम क्या होगा ?

अगर यह आदमी खत लेकर सन्तोष के पास जाये ? अगर उसी से पूछे कि इस पते पर कैसे पहुँचा जायेगा ? अगर चिट्ठी ही दे-दे सन्तोष को ?

लेकिन ऐसा वह करेगा भी क्यों ?

शकुन्तला ने तो उसे बड़ी बारीकी से समझाया है कि इस खत के जल्दी से जल्दी पहुँचने या न पहुँचने पर उसका जीना-मरना झूल रहा है। और फिर, इस पत्र में उस चपरासी को सन्देह-जनक घटना का भान होगा भी क्यों ? आदमी तो आदमी को ही खत लिखता है। कितने ही कारणों से लिखता है।

और अगर कहीं मारे उत्सुकता के वह खुद ही लिफाफा खोल डाले, तो ?

जो होगा देखा जायेगा ! अब नहीं सोचा जाता। भाग्य में जो लिखा होगा वह तो होना ही है—भोगना ही पड़ेगा। डरने-घबराने से कब किसका फायदा हुआ है ? और फिर किससे डरना ? क्यों घबराना ? शकुन्तला ने तो मन पक्का कर ही लिया है। जो होना होगा देखा जायेगा। एक बात मगर तय है—अपमान का जीवन जीने को तैयार नहीं शकुन्तला।

पर !

पत्र तो स्कूल के पते से भेजा गया है।

लेकिन क्या आज पराशर स्कूल गया होगा ? जा सका होगा ? क्या पता ! पुरुषों के मन की थाह मिले तो कैसे ? सब कुछ संभव है उनके लिये। अब सन्तोष को ही देख लीजिये—गया है न वह आज यथानियम अपने दफ्तर ?

चिट्ठी लेकर चपरासी के चले जाते ही शकुन्तला नंगे फर्श पर पेट के बल लेट गई।

आज उसने अपने सत्यानाश को घर बुलाया है। अपने हाथों से लिखा है निमंत्रण-पत्र। सन्तोष ने उसे अपने भविष्य पर फैसला लेने की आजादी दी है। तो ठीक है, फैसला कर लिया है उसने। *आत्मनाश का पथ ही उसे भविष्य की ओर ले जाने वाला पथ है।*

जो पति इतने दिनों तक देखने-जानने के बाद भी इतनी छोटी-सी गलती पर अनायास छोड़ कर जा सकता है, उस पति की अवहेलना को सह कर उसी के भरोसे क्यों रहे शकुन्तला? क्यों करे अपनी जिन्दगी बरबाद? ऐसी दो कौड़ी की नहीं है शकुन्तला। कीमती है वह। काफी ऊँची है उसकी कीमत।

सड़क के किनारे, जहाँ सड़क मरम्मत का काम हो रहा है, उसी के बराबर आकर एक टैक्सी रुकी। मुहल्ले में रहने वाले कई लोगों ने देखा, नहीं दिखा सिर्फ शकुन्तला को। पता भी न चला। पता उसको तब चला जब मीटर के पैसे ले धूल उड़ाती चली गई टैक्सी और टैक्सी के आरोही ने घर के अन्दर आ, उसके करीब झुक कर कहा, 'यह क्या? इस तरह क्यों पड़ी हैं यहाँ?'

शकुन्तला तो ऐसी तेजी से उठी जैसे उसे बिजली छू गई हो।

उठ बैठी शकुन्तला। विह्वल हो, आँखें फैला देखती रही। बेशक उसने पत्र लिखा था, बेशक बुलाया था, पर उसके मन में न तो उस पत्र के पहुँचने की आशा थी और न ही उस पर इतनी जल्दी काम होने की। खोई-सी देखती रही पराशर को। ममता उमड़ने लगी पराशर के मन में। शकुन्तला को देख कर लग रहा था कि अभी तक चेतन जगत् में नहीं लौट पाई है वह। उसका हर हाव-भाव उद्भ्रान्तों जैसा था। पिछली रात के दुःस्वप्नों के बाद आज का दिन भी बहुत भारी रहा है शकुन्तला के लिये। रात भर सोई नहीं, आज इतने दिन चढ़े तक न नहाई, न कुछ खाई थी। बाल बिखरे, मुख कुम्हलाया हुआ। थकान और भूख से चूर हो सो गई थी वह। अचानक इतनी गहरी नींद से जाग उठने के कारण उसे सचेत होने में इतना वक्त लग रहा है।

ऐसी स्थिति में उसे देख कोई पुरुष-हृदय अगर करुणा से भर जाये, ममता से पिघलने लगे तो इसमें ताज्जुब क्या? फिर भी पराशर ने अपनी लगाम खींची। जहाँ तक हो, स्वाभाविक हो कहा, 'मामला क्या है देवी जी?'

शकुन्तला बोली नहीं, सन्तोष का पत्र बढ़ा दिया।

दूसरों का खत पढ़ना पराशर गलत मानता है, पर उस पत्र को उसने निःसंकोच हाथ में लिया और पढ़ा भी। फिर बोला, 'हूँ! तो यह जाना सच है या बचकाना धमकी?'

'वह जो भी कहता है सच ही कहता है।'

'निष्कर्ष यही निकलता है कि मियाँ-बीबी ने मिल कर मसले को खूब उलझा डाला है—क्यों?'

'उसने मुझे छोड़ा है, मैं भी उसे छोड़ दूँगी ?'

'छिः ! कैसी बचकानी बात करती हैं ! आप दोनों समान ही निर्बोध हैं।'

'बचकानापन कह कर अपनी जिम्मेदारी से कन्नी काटना चाहते हैं ?'

'जिम्मेदारी निभाने का हक ही कहाँ है मुझे कि कन्नी काटने की सोचूँ ?'

'अगर वह हक मैं दूँ तो …?'

'शकुन्तला !'

परादार की आवाज मे सागर की गहराई थी, पर सागर की सजीवता न थी उसके चेहरे पर। चेहरा उसका धूप-लू में झुलसे पत्ते जैसा हो रहा था।

प्रेम सम्पदा है।

पर जो प्रेम सरल स्वाभाविकता से नही आता, जो प्रेम शृंखला को नही मानता, वह प्रेम विपदा का नामान्तर मात्र है। ऐसे प्रेम को स्वीकारने का साहस कितने लोगों में होता है ? ऐसे प्रेम को निभाने की शक्ति भी कितने लोगों मे होती है ?

शकुन्तला की विह्वलता खत्म हो गई है। नीद की विह्वलता, आकस्मिक प्रिय-मिलन की विह्वलता।

उठ बैठी वह। खुलते-झूलते बालों को दोनों हाथों से लपेट जूड़ा फेर कर स्पष्ट और स्थिर स्वर में बोली, 'खूब अच्छी तरह सोच-समझ कर जवाब दीजिये। मेरा उत्तरदायित्व लेने का साहस है आप में ?'

'ऐसा अद्भुत और कठिन प्रश्न क्यों पूछ रही हो शकुन्तला ?'

'मानती हूँ कि मेरा प्रश्न अद्भुत है, कठिन भी। पेशे से शिक्षक हैं आप। हर दिन छात्रों से न जाने कितने ऊल-जलूल प्रश्न पूछा करते हैं। आज न हो, उत्तर ही दे दीजिये। यह उत्तरदायित्व ही नही, बोझ भी है, बहुत भारी बोझ, फिर भी सोच कर बताइये।'

'जो असंभव है उस पर विचार-विमर्श कैसा शकुन्तला ?'

'असंभव ? क्यों है असंभव ?'

'अवश्य ही असंभव है। शान्ति से सोचोगी अगर तो तुम्हें भी दिखाई पड़ेगा कि यह किस हद तक असंभव है। अभी तुम सन्तोष से नाराज हो, उस नाराजगी और क्षोभ के कारण….।'

'नही।' शकुन्तला गर्दन हिलाती हुई बोली, 'यह न क्षोभ की बात है, न नाराजगी की। अपने दिल का राज मुझसे छिपा नही।'

'अगर ऐसी बात है तो उस दिल पर काबू पाना जरूरी है।'

'क्यों ? भला ऐसा क्यों ?' पक्षी के तीव्र-तीक्ष्ण स्वर में शकुन्तला पूछती जाती है, 'क्यों पाना हो काबू ? आपके किसी उपन्यास की नायिका अगर ऐसी परिस्थि[illegible] होती तो आप उसे क्या करने का निर्देश देते ? क्या आप भी सनातनी रूढ़ि

की तरह पातिव्रत्य धर्म का झण्डा फहराते यही फरमान जारी करते कि नारी का एकमात्र आश्रय-स्थल पति है—चाहे वह कैसा भी हो ? क्या आप उससे यही कहते कि अत्याचारी अपमानकारी के चरणों की दासी बन कर रहे ?'

'हो सकता है, अपने उपन्यास में मैं ऐसा न कहता,' पराशर ने विषण्णता से भर कर कहा, 'मगर यह तुम क्या कर रही हो शकुन्तला ? साहित्य के सत्य को जीवन का सत्य बनाना चाह रही हो ? साहित्य का सत्य जीवन के पटल पर उतारना संभव नहीं। वह सत्य तो दूरदर्शन का सत्य है, आगे आने वाले युगों का सत्य है।'

'बहुत बुझौअल बुझा चुके, अब बस करिये। साफ-साफ कहते क्यों नहीं कि आप से नहीं होगा ? बात सही भी है, क्यों राजी होने लगे आप इतना बड़ा भार ढोने को ?'

'काश शकुन्तला, सिर्फ भार ढोने का प्रश्न ही एकमात्र प्रश्न होता !'

अपने को भूल बैठी शकुन्तला। भूल गई परिवेश को। झटके से पराशर का हाथ पकड़ कर बोली, 'पर क्या ऐसा नहीं होता ? इस संसार में कभी हुआ नहीं है ऐसा ? समाज, शृंखला, नीति, नियम इन सबों के इतिहास में यही क्या पहली घटना है ? बोलो ? चुप न रहो ! जवाब दो मुझे।'

पराशर के बहुत करीब, उसकी बाँहों की पकड़ की सीमा में छटपटाती रही शकुन्तला।

क्या करे पराशर ?

अपने को वह और कितना रोके ?

सीने में सागर की लहरों का उफान, आगोश की सीमा में प्रेयसी नारी ! जिस नारी के फूल से सुकुमार शरीर को सीने से लगाने के लिये पागल हो रही हैं इच्छायें, बाँहों में भर भाग जाने को प्ररोचित कर रही हैं कामनायें ! इच्छा हो रही है—इस घर की, समाज-संसार की सीमाओं को पार कर दूर, कहीं बहुत दूर भाग जायें। जरूरत हो तो पृथ्वी की सीमा भी पार कर डालें !

किसे मालूम हो सकेगा ?

अगर दूर, किसी और प्रान्त में जा घर बसायें तो कौन पहचानेगा ? मगर ऐसा भी कोई देश कहीं है भी, जहाँ पहुँच जाने पर आत्मधिक्कार से मुक्ति मिलेगी ?

इस अन्तिम प्रश्न का कोई उत्तर नहीं मिलता, अतः हार कर अपनी उन्मत्त होती प्रवृत्ति पर अंकुश लगाना ही पड़ता है। बाँहों की सीमा के करीब से बाँहों के घेरे में नहीं लाया गया प्रेयसी नारी को। हद से हद, पीठ पर रखा जा सकता है आवेग से काँपता हुआ हाथ।

शकुन्तला क्या करे ? इन्तजार करे ?

आशा करती रहे ?

हाँ, शायद इन्तजार ही करती रही।

मधुर की प्रत्याशा में उन्मुख रही।

और नही तो क्यों चुपचाप पीठ पर रखे उस हाथ के उष्ण-स्पर्श को स्वीकारती रही ? क्या उसकी प्रत्याशा पूरी हो सकी ? हाँ ? नही ?

फिर ? क्या हुआ फिर ? झटके से वह उठ क्यों बैठी ? क्या इसलिये कि उसकी प्रत्याशा फलवती नही हुई ? वह नागिन-सी फुंफकारी क्यों ? क्या इसलिये कि आशा भंग होने से वह अपमानित हुई ? उसने कहा, 'मान-प्रतिष्ठा बड़ी वजनदार चीजें हैं, न ? अगर उसे पलड़े पर रखा जाये तो उससे अधिक वजनदार और कुछ मिलेगा ही नहीं, है न यही बात ? खैर, जाने दीजिये। मैंने अब तक बहुत निर्लज्जता की, बहुत ही मूर्खता। अब और कुछ कह कर आपको पशोपेश मे नही डालूंगी। मगर मुझे मुक्ति चाहिये। इस रास्ते से न मिलेगी' न सही। रास्ते और भी हैं और उनके साधन भी अपनी मुट्ठी में हैं।'

पराशर का दिल काँप उठा।

'ताज्जुब नही। ऐसी ही, हाँ ऐसी ही औरतें तो करती हैं आत्महत्या। ऐसी ही, जिनका जीवन आवेग और इच्छा की उन्मादना द्वारा परिचालित होता है, जिनके जीवन में उत्तेजना ही सब कुछ है।'

आवेग ! इच्छा ! उन्माद !

फिर भी, आवेग-कम्पित यह स्वर, उत्तेजना से लाल होता यह मुख कितना सुन्दर है, कितना मोहक !

अब पराशर क्या करे ?

क्या करना चाहिये उसे ?

मित्र के प्रति अपनी विश्वस्तता का निर्वाह करना अवश्य उचित है। तो क्या उसे निभाने के लिये इसे आत्महत्या करने की छूट दे चला जाये वह ?

अब सवाल जो उठता है वह यह है कि यह विश्वस्तता है क्या ? क्या विश्वस्तता का एक और नाम मान है ? प्रतिष्ठा है ? क्या विश्वस्त होना और प्रतिष्ठावान होना एक ही है ?

बेशक ! ठीक ही कहा है शकुन्तला ने। मानव समाज में प्रचलित भद्रव्यवहार, सभ्यता, विश्वस्तता आदि असलियत में कुछ भी नहीं। मनुष्य ने समाज मे इनका प्रचलन इसलिये किया है कि इनसे उसकी मान-प्रतिष्ठा बनी रहे। वह गौरवशाली बन सके। यह कहा जा सके कि मैं हर दुःख-दर्द को सह सकता हूँ, सिर्फ नहीं सह सकता तुम्हारी मान-प्रतिष्ठा पर आँच आना। बस, इतना ही न ?

पराशर ने खिड़की से बाहर देखा।

देखते ही आश्चर्य से भर गया वह !

अरे ! कितनी देर से आया है वह ? वह जब यहाँ आया था तब कितना प्रखर था दिन का रूप ! दोपहर का वह तेजोद्दीप्त सूर्य कब चला गया पश्चिम की ढलान पार कर ? सन्ध्या की इस बेला में प्रकृति कितनी थकी-सी, अवसन्न-सी, चुपचाप पड़ी

है ! इस समय लग रहा है कि थकान से चूर प्रकृति अनन्योपाय हो अन्धकार के आगे आत्म-समर्पण करने को तैयार हो रही है।

'शकुन्तला !'

जवाब स्वर से नहीं, दृष्टि-बाण से देती है वह।

'ठीक है। वही हो शकुन्तला।'

'वही ? कौन-सा वही ?'

'वही, जो तुम कहना चाहती हो।'

'महज इसलिये कि मैंने कहा ? कहने को तो मैंने मरने को भी कहा। तुम्हारे लिये अगर यह बन्धन मात्र हो.....।'

'गलत न समझो मुझे। कहने को तो बहुत कुछ है, पर कैसे कहूँ ? रवीन्द्रनाथ के नायक की तरह कहने को जी चाहता है—'मेरे मर्म के मध्य जो बह रहा है, मेरे खून के कतरों के साथ, उसे मैं बाहर कैसे निकालूं ? कैसे दिखाऊँ ?'

'यह तो मुझे मालूम है, तभी न इतना साहस किया मैंने।'

'फिर भी, मेरा अनुनय है, आज की रात कोई निर्णय पर न पहुँचो। आज की रात और एक बार सोच-विचार कर लो।'

'सोच-विचार !' सहसा हँसने लगी शकुन्तला। 'इसमें सोचने-विचारने को है, तब सोच-विचार करने नहीं बैठती।'

उसका यह दृढ मन्तव्य सुन पल भर के लिये पराशर का दिल क्या एक बार फिर काँप गया ? शायद हाँ, शायद नहीं। आधुनिक युग का मानव है वह, स्त्री-मुख से अनेक स्पष्ट बातें सुनने का आदी है वह। उत्तर उसने दिया, कोमल-गंभीर थी उसके स्वर की अभिव्यक्ति। पराशर ने कहा, 'मेरा ख्याल है, जो भी किया जाये, समझ-बूझ कर करना ही ठीक रहता है। तुम्हें भी, अपने मन को तैयार होने का मौका देना चाहिये।'

'मेरा मन बिल्कुल तैयार है। अब मेरे मन में न कोई दुविधा है, न कोई द्वन्द्व। मुझे तुम आज ही, अभी ले चलो इस घर के बाहर। अब मैं यहाँ पल भर भी रहना नहीं चाहती।'

यह घर वही घर है !

जहाँ पहले दिन आकर ही खुशी से छलकती हुई शकुन्तला को लगा था कि क्या स्वर्ग इससे भी सुन्दर है ? हो सकता है इससे भी सुन्दर ? शकुन्तला की हथेली अपने हाथों के बीच पकड़ पराशर ने आवेग से पूछा, 'क्या तुम यह जानती हो शकुन्तला कि यहाँ से एक बार बाहर जाने का मतलब है, हमेशा के लिये बाहर ही जाना ?'

'जानती हूँ ! खूब अच्छी तरह जानती हूँ। मैं जो भी कह रही हूँ, बूझ-बूझ के साथ ही कह रही हूँ। उसे मैं यह बताना चाहती हूँ कि त्याग देना पुरुष का ही अधिकार नहीं है।'

शकुन्तला की हथेली छूट गई पराशर की पकड़ से। उसने धीरे से पूछा, 'सिर्फ इसलिये ?'

पानी पड़ गया शकुन्तला की उत्तेजना पर। पराशर के म्लान मुख पर अपनी काली आँखों की सारी कोमलता उड़ेलती हुई बहुत ही धीरे से वह बोली, 'नहीं, यह तो सिर्फ कहने की बात है।'

स्तब्धता ! चुप्पी !

मृत्यु-सी शीतल स्तब्धता !

कुछ देर ऐसे ही बीता। फिर, विदेही आत्मा की दीर्घश्वास-सी सरसराहट सुनाई दी, 'दिन ढलने लगा। शायद भैया.....।'

'भैया !'

पराशर को याद आया। सन्तोष ने शकुन्तला को लिखा है कि उसने शकुन्तला के भैया को सूचना दी है। यह तो हो ही सकता है कि बहन अकेली है जान के दफ्तर से सीधे इधर ही आजायें, उसे साथ ले कर घर जायें। हाँ, यही होना स्वाभाविक है।

दिन ढलने लगा।

अजीब-सा वाक्य है !

'तो फिर अभी ही चल चलो !'

इधर-उधर नजर दौड़ाती शकुन्तला बोली, 'कहाँ ?'

'कहाँ ? यह तो मालूम नहीं।'

मालूम पराशर को सच ही नहीं है।

कैसे मालूम होता बेचारे को ? कुछ घण्टों पहले भी उसे पता न था कि आज, इतनी जल्दी दोस्त की बीवी को ले उसे भाग जाना पड़ेगा। पता तो उसे अभी चला। अभी फौरन ही उसने जाना कि यही है उसका ललाट-लेख। इस महान् उद्देश्य के साधन के लिये ही भाग्य उसे यहाँ ले आया था।

भाग्य और भगवान् ! अपने-अपने तरीके से सभी इन पर विश्वास करते हैं।

'तो फिर उठो।'

'अपने घर तो नहीं ले जा रहे हो मुझे ?'

'अभी पूरी तरह सनक नहीं गया हूँ।'

अब तक के दमघोंटू वातावरण को चीरते मोती जैसे दाँतों की पंक्ति चमक उठी, 'मतलब यह कि किसी हद तक सनके हो ?'

दाँतों की पंक्ति इधर भी चमकी, 'यह भी कोई पूछने की बात है ?'

बादलों के पीछे से चाँद मुसकराया। वातावरण हल्का हुआ।

·

उन्हें लग रहा था कि वे कहीं घूमने जा रहे हैं। जैसा कि पहले बहुत बार जा चुके हैं।

सम्पर्क सहज होते ही भाषा की दूरी आ जाती है। 'तुम' से वापस 'आप'।

'ज़रा रुकिये। टैक्सी बुलाने अभी मत जाइये। कुछ कपड़े तो ले लूँ अपने।'

'जरूरी है? इतनी बड़ी दुनिया में क्या साड़ियों की कोई कमी है?'

'कमी तो नहीं। मिलेंगी तमाम, लेकिन जाते ही जाते आपको और कितना हैरान करूँगी?'

'देखो शकुन्तला, अपने में उपजते इस अपराध-बोध को दूर करो। इसमें मुझे जरा भी खुशी नहीं। तुमने जो स्वेच्छा से मेरी होने की इच्छा व्यक्त की, इसी में मेरा अनन्त गौरव है।'

दिन डूब चुका था। अन्धेरा गहराने लगा। हवा की गति धीमी होती जा रही थी। बातचीत अब पूरे वाक्यों में नहीं, वाक्य के भागफल में हो रही थी। स्वर अब स्वर की तरह झनझना नहीं रहे थे, उड़ती तितली के पंख से सनसना रहे थे।

'ताला-चाबी कहाँ?'

'क्या करना है ताला-चाबी का?'

'अरे नहीं, ऐसे कैसे छोड़ दें?'

'लेकिन चाबी दोगे किसे?'

'देखूँ।'

सड़क पर पड़े स्टोनचिप्स और ईंटों को बचा कर कदम बढ़ाते आगे बढ़ते चले थे। गली छोड़ राजपथ पर आकर टैक्सी पकड़ी। सीट पर धँस कर शकुन्तला अपने को यथासंभव छिपा कर बैठी थी। टैक्सी के अन्धकार में धँस कर उसने देखा आसपास के सारे मकानों में बत्तियाँ जलाई जा चुकी हैं। इन मकानो मे ज्यादातर मकान उसके परिचित हैं। परिचित हैं तो क्या? टैक्सी में अपने को इस प्रकार छिपा कर न बैठ अगर गाड़ी की खिड़की से मुँह निकाल कर झाँकती भी तो क्या फर्क पड़ता? सड़क पर आँखें बिछाये कौन खड़ा है? किसे इतनी फुर्सत है कि पता लगाता रहे कि किराये की टैक्सी कब आई, कब गई? किसे उतारा, किसे चढ़ाया?

लेकिन, काश छवि ने देखा होता!

शहर के कुलीन इलाके के एक नामी होटल के ऊँचे दामों वाला कमरा।

किवाड़ भिड़का दरवाजे से पीठ लगा कर खड़ा हुआ पराशर। आँखों में गंभीरता और होंठों पर मुस्कराहट बिखेर बोला, 'आज की रात यहीं बितानी है। कल सुबह के पहले कुछ भी इन्तजाम करना संभव नहीं। रह सकोगी न अकेली?'

'अकेली?' चौंक कर शकुन्तला ने दोहराया।

अभी कुछ देर पहले कमरे से ऐटेच्ड बाथरूम में जा खूब नहाई है वह। सूट-

केश से धुली-प्रेस की सफेद साड़ी निकाल कर पहनी है। माथे पर अभी जल की बूँदें चमक रही हैं। सारे दिन की मुरझाई, थकी, भूखी शकुन्तला के चेहरे पर ताजगी की चमक झिलमिला रही है।

अतीत को धो-पोंछ कर नये सिरे से जीवन शुरू करने का स्थिर संकल्प उसके मन में घर कर चुका है। इसी कारण वह अब इतनी उज्ज्वल और शान्त है। अकेली रात बिताने का प्रसंग छिड़ते ही उसके शान्त निस्तरंग मन को धक्का लगा।

'अकेली ?'

फोम के मोटे गद्दों पर सफेद चादर ढँके बिस्तर पर पाँव लटकाये बैठी उस महारानी मूर्ति पर एक चकित निगाह डाल पराशर ने आँखें हटा लीं। कहा, 'और हो भी क्या सकता है ?'

'और तुम ?'

'मेरे लिये क्या चिन्तित होना ? मेरा तो एक डेरा है ही।'

पराशर की बात सुन क्या शकुन्तला डर गई ? क्या उसे लगा कि उसे यहाँ रख पराशर खिसक जायेगा ? बहुत मुमकिन है उसने ऐसा ही सोचा होगा, नही तो यह बात सुन वह इस तरह सिहर क्यों उठी ? डरना तो स्वाभाविक ही था। जहाँ पापबोध होता है, भय तो उसी जगह पनपता है। जहाँ कोई दावा नहीं, अधिकार नही, वही पर तो जागती है पकड़ रखने की आकुति।

'नही।'

'नही ? नही क्यों ?'

'तुम्हारा जाना न होगा।'

'सोचा तो मैंने भी ऐसा ही था, पर यहाँ आज एक भी कमरा और खाली नहीं है। बड़ी मुश्किल से यह एक कमरा मिला है।'

अब तक शकुन्तला कल्पना के किस लोक में विचरण कर रही थी ? किस दुनिया में थी वह ? कही भी रही हो, यह तो शर्तिया कहा जा सकता है कि पराशर की तरह वह स्वस्थ विवेचना के धरातल पर नहीं थी। इसी कारण से पराशर की बात सुन वह इतना चौंक गई, इतने आश्चर्य से देखती रही उसे।

बड़ी अजीब हालत है। पराशर को देख, उसकी बातें सुन, यह कभी भी तय नहीं किया जाता कि वह क्या चाहता है। अभी जो एक निहायत सभ्य और सुमार्जित प्रस्ताव उसने सामने रखा यह किसलिये ? शकुन्तला की मनोदशा को एक बार फिर पढ़ने के लिये ? वह क्या चाहती है, यह पता लगाने के लिये ? या इसलिये कि वह खुद ही अभी तक अपने साथ एकमत नहीं हो सका है ?

मगर अब झेंपने-शर्माने से काम नहीं बनेगा।

किनारे का सुनियंत्रित आश्रय छोड़ चुकी है वह। अब अगर नाव को कस कर न पकड़े तो काम बनेगा कैसे ? अतः नारी होते हुये भी सारा संकोच त्यागना पड़ा।

है उसे। लज्जा नामक आभूषण को तिलांजलि दे उसे कहना पड़ता है, 'यह एक ही काफी है।'

'कहाँ है काफी ?'

'तुम उतनी दूर क्यों खड़े हो ? करीब आओ। कमरे में बैठने की जगह की कमी तो नहीं।'

'सो तो नहीं है।' कहता पराशर बढ़ा और गद्दीदार जो दो सिंगल चेयर्स थी, उन्हीं में से एक पर आसन जमा लिया। इतने आराम से, साज-सजावट की इतनी बहुलता का पराशर अभ्यस्त नहीं, इससे उसे वहाँ चैन नहीं मिल रही थी। पर धन्य नारी जाति को, ऐश्वर्य और विलास के साथ अपने को कैसा फिट कर लेती है!

शकुन्तला ने आँचल सँभाला। इधर-उधर देखा! फिर बोली, 'क्यों नहीं है काफी ? यह तो डबल खाट का रूम है न!'

पराशर मुस्कराया, 'सो तो है, पर छत तो एक ही है न ?'

विलोल नयन का कटाक्ष विलोलतर हुआ, स्वर की विह्वलता में आवेश आ मिला। मोहिनी नारी का स्वर फूटा, 'जिसके सहारे खुले आकाश के नीचे खड़ी होने का साहस किया मैंने, उसके साथ एक छत के नीचे रात बिताने में मुझे तो कोई कठिनाई नहीं मालूम होती।'

पराशर ने मुस्करा कर कहा, 'मुझे तो हो रही है।'

'तुम्हें कठिन लग रहा है ?'

'लग तो ऐसा ही रहा है। तुमने सुना होगा कि अचानक लाटरी खुलने पर मारे खुशी के लोग पागल हो जाते हैं। इसलिये हितैषीजन धीरे-धीरे समाचार देते हैं कि चोट न लगे। मेरी यह प्राप्ति तो उससे कई गुणा कीमती है। राजपाट के साथ राजकुमारी भी।'

कटाक्ष की दामिनी एक बार फिर दमक उठी। 'राजकन्या की बात तो जैसे-तैसे समझ ली पर यह राजपाट ? यह कहाँ है ?'

'राजकुमारी के आँचल में।'

'क्या कहने! अगर ऐसा सोच सुन हो रहे हो तो ऐसा ही सही। लाभ की यथार्थता मुबारक हो तुम्हें।'

'लाभ यथार्थ है या अयथार्थ, यह मैं अभी तक तय नहीं कर पा रहा हूँ।'

शकुन्तला मन ही मन पुलकित हुई। उसे बड़ा मजा आया।

यह कोई खास बात नहीं। न चिन्तित होने लायक, न डरने काबिल। यह तो महज आँखों की शर्म है। जरा-सी लज्जा, जरा-सी द्विविधा। शकुन्तला को ही आगे बढ़ इसी द्विविधा को दूर करना पड़ेगा। औरत जब तक पूरी तरह स्वतंत्र नहीं हो जाती, तब तक वह घर का आश्रय छोड़ निकलती नहीं। कस्बे के उस छोटे से मकान से निकल आने का मौका अगर शकुन्तला को न मिला होता तो शायद क्रोध, धिक्कार और अपमान से तिलमिला कर, धन्वोष पर बदला लेने के ख्याल से गाड़ी में आग

लगा कर जल भरती वह। लेकिन शकुन्तला उस निर्जन परिवेश के एकाकीपन से निकल आई है, आई है जनारण्यमय नगर के जहरीले नागपाश के बीच। यहाँ का परिवेश भिन्न है। अगर यहाँ आत्महत्या करना है तो आग साड़ी में नहीं, समाजविधि और नीतिबोध पर लगाना है।

परिवेश के बदलने पर मनुष्य भी बदल जाता है। जो युवती सखी के विवाह-मण्डप की रंगीनी में लास्यमयी, हास्यमयी, वाचाल और प्रगल्भा है, वही प्रातःकाल की शुभ्रता में जब देवालय जाती है तो शान्त, गम्भीर और मौन हो जाती है।

अमोघ विधि के प्रचण्ड आकर्षण से मजबूर होकर पराशर शकुन्तला को जहाँ ले आया है वह है विलास का राज्य। यह एक ऐसी जगह है जहाँ पहुँचने पर स्वतः ही प्रश्न जागते हैं, क्या इस धरती पर सच ही इतना प्रकाश है? है इतना संगीत? भोग करने के लिये इतनी वस्तु, इतने प्रकार हैं? सोचना पड़ता है कि क्या यह जीवन इतना ही तुच्छ है कि इसे अदना-सी बात पर बर्बाद किया जाये? एक बात और भी है। निषिद्ध प्रेम तो शराब से भी रंगीन, उससे कहीं अधिक नशीला है।

शकुन्तला की इच्छा होती है—नवयौवना किशोरी-सी उत्ताल हो उठे, उत्तेजना से उन्मादी बनाना चाहती है अपने आयत्त में आये व्यक्ति को। पराशर की यह दूरी, उसकी सजगता उसे जहर लगती है। जो भी, जैसा भी हो, चाहे कितना ही भयंकर क्यों न हो, हो जाये, तो उसको चैन मिले, शान्ति आये उसके मन में।

इस मकसद से वह खाट से उतरती है, सधे कदमों से पराशर के करीब आती है, असके कन्धे पर हाथ रख आश्वासन देती है, 'इतना भी क्या डरना?'

साँसों की गरमी से उसके नाक, मुँह, सर्वशरीर मदहोश होने लगते हैं, उँगलियों के स्पर्श से मदहोश होने लगती है चेतना, उसका बोध, उसकी बुद्धि-विवेचना मदहोश होने लगती है एक अनाम सौरभ की मृदुमन्द सुरभि से। कमरे का कोना-कोना, हवा का हर झोंका इस सुरभि से व्याप्त है, मदिर है।

बालों में कौन-सा तेल डालती है शकुन्तला?

पत्थर का बुत नहीं, हाड़-मांस का बना इन्सान है पराशर। कितनी देर, और कितनी देर जंग जारी रख सकेगा वह?

या शायद, पत्थर का बुत नहीं, हाड़-मांस का बना इन्सान ही जंग लड़ सकता है, जारी रख सकता है। पत्थर का बुत तो एक धक्के से ही चूर-चूर हो जाता है, इसके उदाहरण पुराण, उपपुराण, काव्य, कहानी, मुनि-ऋषियों के उपाख्यानों में भरे पड़े हैं। इतिहास के पन्ने दर पन्ने पर फैले हैं, प्रमाणित हो रहे हैं मठ-मन्दिरों, देवता-विग्रहों की छाया के अन्तराल में।

जो जीव सर्वाधिक दुर्बल होते हैं, बोध-शक्ति शायद उन्हीं की सबसे अधिक तीक्ष्ण होती है।

इसलिये उसकी मदहोश अनुभूति की गहराई से आत्म-रक्षा के अस्त्र उठ आते हैं। कहता है, 'डर तो आपको ही ज्यादा लग रहा है। इतनी बड़ी लड़की, इतने

सारे लोगों के बीच रह कर भी एक रात अकेले रहने का साहस नहीं जुटा पा रही है।'

अपमान से काला पड़ गया शकुन्तला का गोरा मुख। धीरे-धीरे हट गई वह उस जगह से।

नारी की यही रीति है। ससम्मान प्रत्याख्यान को वह सर्वदा ही अपमान समझ बैठती है। और फिर बदले में डँसने को फन उठाती है।

'रहने दो। समझी मैं। लेकिन यह भी याद रखना, मुझे इस तरह बेघर कर भागने की कोशिश कामयाब न होगी तुम्हारी। जिस क्षण कमरे के बाहर पाँव रखोगे, मैं शोर मचा कर भीड़ इकट्ठी कर लूँगी।'

'कुन्तला !'

शकुन्तला सावधान हो विनम्र होती है।

'मैं तुम्हें बेघर कर भाग जाऊँगा ? तुम यह कह सकी ? इतनी आसानी से ?'

उसकी दृष्टि की गहराई, उसकी आवाज के भारीपन के आगे नीचता, शर्म से पानी-पानी होती है। तो फिर क्या उपाय है ? उपाय है क्षोभ का प्रदर्शन, अश्रुजल का विसर्जन।

पलंग पर लोट कर रो-रो कर बेहाल होती है शकुन्तला, 'क्या मैं ऐसी जगह पहले कभी रही हूँ ? चारों तरफ साहब-मेम दिखाई पड़ रहे हैं। डर नहीं लगता मुझे ?'

'सही बात है। मेरी ही गलती है। यहाँ तुमको नहीं लाना था मुझे। अच्छा, अब चुप हो जाओ, कहीं नहीं जाऊँगा मैं।'

शनैः शनैः कलकत्ते का कल-कोलाहल शान्त होने लगा। विलास की थकान से अवसन्न हो चली थी लास्यमयी भोग भूमि। ऊँचे दामों की, नरम गद्दियों वाली गाड़ियाँ जो देर रात तक होटलों, सिनेमाघरों, नाट्यमंचों, बारों या क्लबों के फाटक के बाहर लम्बी कतारों में खड़ी रहती हैं, एक-एक कर जाने लगी। यान-वाहनों की धक्कम-धक्के से ध्वस्त सड़कें रात के बाकी घण्टों में आराम करने के इरादे से फैली पड़ी थीं। केवल लैम्पपोस्ट ही सीधे खड़े थे, सजग प्रहरियों जैसे सिर पर बत्ती जलाये।

खुली खिड़की से उन्हें देखा शकुन्तला ने। शायद उन्हें देख कर ही उपमा उसके मन में आई। खाट से उतर कर खिड़की के करीब आई। धीमी पर तीखी आवाज में बोली, 'लैम्पपोस्टों की तरह सारी रात खड़े-खड़े पहरा देने का इरादा है क्या तुम्हारा ?'

खिड़की से लग कर खड़ा था पराशर। सड़क की ओर देख रहा था। जवाब में उसने कहा नहीं कुछ, केवल पलट कर देखा।

अपनी बात दुहरा कर शकुन्तला ने कहा, 'पागलों के लिये ही रात भर खड़ा रहना संभव है। मैं जाकर सोफे पर लेट जाती हूँ, तुम…'

'नहीं शकुन्तला। ऐसी सुन्दर रात लेट कर, सो कर खर्च करने का जी नहीं हो रहा।'

'सुन्दर या पीड़ादायक ?'

'पीड़ा ? शायद तुम्हारी बात ही ठीक है। लेकिन, पीड़ा से ही तो सुन्दर की उत्पत्ति होती है।'

'सिर्फ कायर और डरपोक ही शब्दों का जाल रच अपनी कमजोरी को छिपाने का प्रयास करते हैं!' जहर! जहर टपक रहा था शकुन्तला की जबान से, उसकी आँखों की दृष्टि से।

उसके दोनों कन्धों को अपनी मजबूत पकड़ में ले पराशर आकुल हो बोल पड़ा, 'कमजोर! हाँ''''शकुन्तला, तुम्हारा कहना बिल्कुल ठीक है। बहुत''''हाँ, बहुत ही कमजोर हूँ मैं, इसलिये अब तक आकाश से शक्ति की भीख माँग रहा था।'

आशा और आशंका से थरथरा उठी शकुन्तला, उसकी मुखर वासना मूक हो गई। धड़कते दिल से प्रतीक्षा करती रही। करती रही।

'यहाँ नहीं, यहाँ नहीं, कहीं और',

'किसी और जगह में''''

व्यर्थ हुई उसकी प्रतीक्षा। सिर झुका कर उसे दुबारा वापस लौटना पड़ा। उसके दोनों कन्धों की नसें तड़क रही थीं। पराशर की मजबूत पकड़ से, लगता था हड्डियाँ तक पिस गई हैं। बस और कुछ नहीं।

पराशर ने कहा है, आज नहीं। यहाँ नहीं। इस अति परिचित परिवेश से दूर, जन-बस्ती की सीमा के पार, नया नाम, परिचय ले वे पुनर्जीवित होंगे नया जीवन जीयेंगे।

आज का दिन साहस-संचय का दिन है। शक्ति जु-ाने का दिन है।

शकुन्तला को क्या करना चाहिये ?

देवता मान पराशर के आगे श्रद्धा से झुकना चाहिये ? या मिट्टी का लोंदा मान कर उस पर थूकना चाहिये ?

वह रात भी खत्म होती है।

होगी तो बेशक। मृतदेह को घेर कर बैठे रहने वाली रात का भी तो अन्त होता है, कभी न कभी।

छः

दिन डूब चला था।

पेड़ों के सिरों पर अभी चांदी चमक रही थी। नीचे की छाया पर सोने की झिलमिलाहट। ...अभी तो क्षण-क्षण पट परिवर्तित होगा। सोने की झिलमिलाहट जब पेड़ो के सिरों और पत्तियो पर नाचेगी तब नीचे के काण्डो पर नीम अन्धेरे की आंख-मिचौनी शुरू होगी। उसके बाद ऊपर-नीचे सब पर अन्धेरा छा जायेगा। एक बहुत बड़ी और बहुत मोटी तूलिका से रंग और रंगों के आवेश को लीप-पोत कर बराबर कर दिया जायेगा। नित नयेपन की महिमा से मण्डित यह खेल नित्य ही खेला जाता है। फिर भी, मोहित होता है मानव मन, पटाक्षेप के हर परिवर्तन के साथ उच्छ्वसित उल्लास से चमत्कृत हो यह कहता है, 'वाह !'

रेल मार्ग नहीं, गाड़ी की सड़क।

ईंट-पत्थर, लोहा-लकड़ी, शहर और उसकी आकृति में बने कस्बों को पीछे छोड़ गाड़ी खुली सड़क पर आ गई है। यह वही बहुत पुरानी और पक्की सड़क है जिस पर से हजारों-लाखो गाड़ियाँ जा चुकी हैं, जा रही हैं, और भी आगे जायेंगी। जिस पर से दिन डूबने की बेला मे आकाश के बदलते रंगों को देख पराशर और शकुन्तला की तरह अनगिनत और यात्रियो के मुख से भी अनायास उच्चारित हुआ होगा, 'वाह !'

तारीफ करने काबिल है सड़क।

उसकी आयतन को देख कर लगता है, पता-ठिकाना विलोप कर निःसीम में खो जाने वालों के लिये आदर्श है यह सड़क।

चलते-चलते कुछ देर मे चांदी की चमक चुक गई, सड़क के दोनों ओर लगे पेड़ों के सिरों और पत्तियों पर सुनहली शिखायें झिलमिलाने लगी।

कितनी देर तक दिखाई पड़ेगा सौन्दर्य का यह सम्पुट ?

सौन्दर्य इतना क्षणिक क्यो है ?

स्तब्धता के अन्त में चपलता।

'ए जी, बताते क्यों नही, कहाँ जा रहे हैं हम? जितनी बार पूछा, टाल गये।'

'बताया तो कि हम वही जा रहे हैं जहाँ हमारी तकदीर हमे लिये जा रही है।'

'यह तो वही टालने वाली बात हुई न?'

'तुम चाहे जो कहो, यही सच है। और सब को टाला जा सकता है, उसे नही।'

'अरे वाह! तुम इतने भाग्यवादी कब से हो गये?'

'किसी न किसी वक्त हर आदमी भाग्यवादी हो ही जाता है।'

'पता नही क्या हो गया है तुम्हें? कैसी अजीब अस्पष्ट बातें कह रहे हो? एक ही बात स्पष्ट है—वह यह कि तुम्हे चैन नही। चैन होने की तो खैर बात भी नहीं। अपने तरीके से बेफिक्र जिन्दगी जी रहे थे और अब बिना कहे-पूछे सिर पर पहाड़ ढोने को मजबूर किये गये हो।'

'कुछ भी ढोने को क्या कोई भी किसी को मजबूर कर सकता है? यह भी भाग्य है।'

'बड़ी आफत है! तुम्हारी यह भाग्यवादिता अब सही नही जाती मुझसे।'

'ठीक है अब नही कहूँगा।'

'मतलब यह कि बात ही नही करोगे।'

'ऐसी तो कोई बात नही।'

'बोल कहाँ रहे हो तुम? तब से तो मैं ही लगातार बोले जा रही हूँ।'

'होना तो ऐसा ही चाहिये। किसी भी महिला का चुपचाप बैठी रहना तो कल्पनातीत है। अनादिकाल से, सृष्टि की शुरुआत से यही नियम चला आ रहा है कि नारी बोलती रहे और पुरुष सुनता रहे।'

'सो तो है,' शकुन्तला मुस्कराई, 'ऐसा तो शायद उस जमाने से होता आ रहा है जब आदम को हव्वा ने सेब खिलाया। क्यों है न?'

'हूँ।'

फिर चुप्पी छा गई।

चुप्पी से शकुन्तला खौफ खाती है।

पराशर की नीरवता से घबरा जाती है शकुन्तला। उसे उस वक्त लगने लगता है कि वह उसकी पहुँच के बाहर है। शकुन्तला को तब तक चैन नही आती जब तक उसको चुप्पी के उस व्यूह के बाहर घसीट नही लाती। पराशर को उस व्यूह से बाहर लाने के लिये शकुन्तला को बातों का तीर चलाना होगा, फैलाना होगा बातों का जाल। चाहे वे बातें कितनी ही बेतुकी क्यों न हो।'

'अच्छा, यह तो टैक्सी है न?'

'और हो भी क्या सकती है? अपनी गाड़ी कहाँ से लाऊँ मैं?'

'अभी तक तुमने भी नहीं बताया कि तुम मुझे कहाँ ले जा रहे हो ?'

एक हल्की-सी साँस हवा में मिल जाती है ।

शकुन्तला की बात से पराशर चौंक जाता है । उसकी तरफ मुड़, स्नेहसिक्त हो मुस्करा कर धीरे से पूछता है, 'डर रही हो ? मुझ पर विश्वास नहीं रख पा रही हो ?'

'यह मैंने कब कहा ? बात दर-असल यह है कि मुझे लग रहा है कि हम कहीं बहुत दूर जा रहे हैं । अगर ऐसी ही बात है तो रेलगाड़ी से न जाकर मोटर से क्यों जा रहे हैं ?'

'क्यों, तुम्हें इस तरह जाना अच्छा नहीं लग रहा है ?'

'अच्छा लगने या नहीं लगने वाला सवाल यहाँ उठता ही नहीं । जो बात समझ में नहीं आ रही, वह यह है कि इस तरह क्यों जा रहे हैं हम ?'

'क्यों नहीं समझ पा रही हो कुन्तला?' पराशर का स्वर भर्रा रहा था, 'जानती तो हो, रेलगाड़ी में कितनी भीड़ होती है । हर वक्त शोरगुल, धक्कम-पेल, कितनी आशंकायें उठती रहती हैं रास्ते भर, कितने प्रकार के डरों का सामना करना पड़ता है.....।'

पराशर की बात पूरी हो भी न पाई थी कि शकुन्तला ने उसका हाथ पकड़ कर कहा, 'ठीक, बिलकुल ठीक कह रहे हो तुम । सच ही, तुम्हें मेरा कितना ख्याल रहता है ।'

शकुन्तला ने पराशर का हाथ पकड़ा तो था अचानक भाव विगलित होकर, पर, फिर वह उस शक्तिशाली बाहु को, जिसके भरोसे घर-द्वार कुल मर्यादा सब छोड़ आई है, उसे अपनी पकड़ से मुक्त करना ही भूल ही गई ।

मगर पराशर भी क्या आदमी है !

क्या पुरुष इस हद तक संयमी हो सकता है ?

जो नारी केवल नारी नहीं, प्रेयसी नारी है, वह जब स्वेच्छा से उसकी भुजाओं में बँध जाने को प्रस्तुत है, क्या उस वक्त भी उसका मन नहीं होता कि उसे बाँहों के घेरे में बाँध ले ?

क्या है यह ? क्या यह उसकी विमुखता है ? या उसकी निःस्पृहता है ?

मगर यह मानेगा कौन ? कौन यकीन करेगा इस पर ? शकुन्तला कुछ दिनों से, और पिछले कल से तो खास तौर से देख रही है कि रह-रह कर पराशर की दृष्टि में कैसी दीप्ति दमक उठती है । इस दीप्ति की उपस्थिति या अर्थ समझने में नारी-मन कभी गलती नहीं करता । उसे पहचानने में गलती न होने के कारण ही तो शकुन्तला बार-बार आशा कर रही है, बार-बार आशंकित हो रही है । लेकिन हर बार ही पराशर उसे अचम्भे में डाल रहा है, चकित कर रहा है ।

यह सच है । हताश हो रही है शकुन्तला । निराश हो रही है । उससे भी अधिक हो रही है चकित । यह क्या ? क्या इतना संयम सम्भव है ?

विस्मय के साथ शकुन्तला के मन में एक नई भावना पनप रही है। भावना है क्षोभ की। विक्षोभ की।

अब बर्दास्त नही होता उससे।

यह तो 'शकुन्तला' में बसने वाली नारी का अपमान है। घोर अपमान। तीव्र अपमान-बोध की तीक्ष्ण ज्वाला से तिलमिलाने लगी शकुन्तला। असंयमी पुरुष का लुब्ध कामातुर स्पर्श नारी के लिये अपमान-कर है, इसमें शक नही, लेकिन उससे भी कहीं अधिक अपमानकर है संयमी पुरुष की निरासक्ति। लुब्ध पुरुष के प्रति नारी के मन में उत्पन्न होती है घृणा और निरासक्त पुरुष के लिये जाग उठता है आक्रोश।

क्षोभ और उत्कण्ठा से छिन्न-भिन्न होने के पहले शकुन्तला को एक बार इस निरासक्त पुरुष को डँसना तो पड़ेगा ही, नही तो उसके पाँव तले की जमीन खिसक न जायेगी?

गोधूलि बेला भी अस्तमित हो चली। दिन थके पाँवों से विदा ले रहा है।

गोद पर फैली पड़ी प्रेयसी नारी के शरीर की पकड़ से अपने को मुक्त करते हुये मृदुल और थके स्वर में पराशर ने कहा, 'तीसरे व्यक्ति की उपस्थिति की बात याद रखो कुन्तला।'

थका तो वह है ही।

पिछले कल से अपने साथ कैसी भयावह जंग लड़ रहा है वह।

शकुन्तला को एक बार फिर मात खानी पड़ी। उठ बैठी। संभल कर खिड़की की ओर खिसक गई। मुख की रेखायें कठिन होने लगी।

कुछ वक्त कट गया।

पीठ पर हल्का-सा स्पर्श।

चौंकी शकुन्तला। फिर व्यंग्य से कुंचित हुई मुस्कराहट। बोली, 'तीसरे व्यक्ति की उपस्थिति की बात भूल मत जाना।'

'मुझे गलत मत समझो शकुन्तला।'

शकुन्तला ने जवाब नही दिया।

'शकुन्तला! काश यह रास्ता कभी खत्म न होता। काश, इसी तरह अनन्त काल तक हम चलते रहते।'

शकुन्तला समझ जाती है कि इस संयमी पुरुष के संयम का बाँध टूटने को है। अनासक्ति का नाटक अब समाप्ति पर है। इसलिये अब उसने अनासक्ति की चादर ओढ़ते हुये कहा, 'बुराई क्या है?'

'सच शकुन्तला! काश, ऐसा हो सकता!'

क्षोभ त्याग मुस्करा पड़ी शकुन्तला। फिर नन्ही बच्चियों की तरह गर्दन हिला-हिला बोली, 'हो तो अवश्य सकता है। तब तक तो हो ही सकता है, जब तक

जेब गरम है। तुम्हारे पैसे खत्म हो जाने पर मैं अपने जेवर निकालूँगी।'

'धीरे बोलो। देख तो रही हो, शाम गहरा रही है, कितना घना है अंधेरा। चारो तरफ का सन्नाटा भी देख ही रही हो।'

'तो क्या हुआ? ड्राइवर तो सरदार है। हमारी भाषा वह भला क्या समझेगा?'

'इस दुनिया मे ऐसा कोई व्यक्ति नही जो रुपया और जेवर का मतलब न समझता हो।'

खिलखिला पडी शकुन्तला। उसे लगा उसके पाँव तले से खिसकने वाली जमीन फिर अपनी जगह पर आ रही है।

'कितना अच्छा होता, अगर यह गाडी तुम्हारी अपनी होती। मेरे एक मामा एक बार अपनी गाड़ी से अफगानिस्तान गये थे।'

'हम तो उससे भी दूर जा रहे हैं।'

'अरे सच? कहाँ?'

'अगर कहूँ जहन्नुम मे, तो?'

'तब तो कहना ही क्या? वह तो बड़ी बढ़िया जगह है। स्वर्ग से भी बढ़िया।'

फिर चुप्पी।

सहसा शकुन्तला चहक उठी, 'तुम भले ही मुझे सस्पेन्स में रखो, सर्प्राइज देने की कोशिश करो, मगर मैं समझ गई।'

'क्या?'

'यही कि हम कहाँ जा रहे हैं। तुम कहाँ ले जा रहे हो मुझे।'

'अरे? कैसे पता लगाया तुमने? अच्छा बताओ तो सही कि कहाँ जा रहे हैं हम?'

'मधुपुर।'

'मधुपुर?'

'हाँ जनाब, हाँ। अब बनने से क्या फायदा? मधुपुर में तुम्हारे एक दोस्त का सुन्दर सा मकान है, भूल गये? एक दिन बताया था तुमने। यह भी कहा था कि जब मन मचलता है, तुम वहाँ चले जाते हो। वहाँ माली घर की देख-रेख करता है। तुम्हें देखते ही झुक कर सलाम करता है। कमरे खोल देता है। मुझे सब याद है। अब ज्यादा बनो मत।'

'नही, बन कर होगा भी क्या? तुम्हे जब पता चल ही गया है तो छिपाने से फायदा भी क्या?'

'बेकार ही छिपाते रहे। जो भी कहो, एक बात कहनी ही पड़ेगी कि कहो जाते वक्त आनन्द तब तक पूरा नही होता, जब तक मालूम नही होता कि किस मंजिल

की ओर बढ़ रहे हैं। मालूम न होने तक अजीब सूना-सूना सा लगता है।'

'लेकिन अभी कुछ देर पहले तो तुम कह रही थी कि बिना पूछ-ताछ किये मेरे साथ-साथ तुम कहीं भी जा सकती हो, क्षितिज के पार तक जाने को राजी हो, तो फिर?'

'अवश्य जा सकती हूँ। क्या मैं अभी भी कह रही हूँ कि नहीं जा सकती? सिर्फ....'

'सिर्फ पूछे बिना रहा नही जाता, यही न?' पराशर मुस्कराया।

'वह तो जी, नारी मन का स्वधर्म है।'

प्रकृति के खुले मुख पर अन्धेरा घूँघट बन कर आया है। शकुन्तला को, न जाने क्यों, डर सा लगने लगता है। अभी कुछ देर पहले रुपये और जेवर के प्रसंग में उठी बात याद आने लगती है। दाढ़ी-मूछों से सज्जित ड्राइवर की पीठ पर सहमी सी निगाह से देख वह पराशर से सट कर फुसफुसाई, 'क्या सारी रात इसी गाड़ी में सफर करना है हमें?'

शकुन्तला के करीब खिसकने की वजह समझ पराशर उसे निराश नहीं करता। प्यार से, एक चपत सिर पर लगा उसने कहा, 'सारी रात? नही, ऐसी तो कोई बात नही।'

'जो भी कहो, रेलगाड़ी में यह डर नहीं।'

पराशर ने जवाब न दिया।

बहुत सा पैसा लगा उसने रेलगाड़ी के बदले मोटर गाड़ी का इन्तजाम किया है।

'अच्छा, अगर बीच रास्ते में गाड़ी बिगड़ जाये तो?'

'तो क्या? हम भी बीच रास्ते में ही पड़े रहेंगे।'

'इस जंगल में?'

'अब यहाँ हमें शहर कहाँ से मिलेगा?'

'मेरी राय में, इस तरह आना खतरे से खाली नहीं। तुमने बहुत बड़ा रिस्क लिया है।'

पराशर के कहकहे गूँजने लगे। उसने कहा, 'कमाल हो तुम भी! जहन्नुम में जाने का रिस्क लेते वक्त जरा भी नही डरी। उसके आगे यह बचकाना सा रिस्क भारी पड़ रहा है तुम्हें!'

'तुम भी खूब हो। बार-बार उस बात को इस तरह याद क्यों दिलाते हो? अगर न कहते इस तरह तो मुझ पर मेहरबानी होती।'

'नाराज हो गई कुन्तल?'

'नहीं, नाराज क्यों होने लगी? यह तो सही है कि मैं तुम्हें जहन्नुम में

को मजबूर कर रही हूँ। फिर मैं इस बात को भूलूँ क्यो ? इस बात को मुझे हर क्षण, हर पल ध्यान में रखना ही होगा।'

पराशर ने कोमलता से कहा, 'नही कुन्तल, कोई किसी को कही भी जाने को मजबूर नही कर सकता। जो जाता है स्वेच्छा से जाता है।'

पता नहीं, वातचीत का रुख किधर जाता, पर ड्राइवर के कारण सिलसिला रोकना पड़ा। गाड़ी रोक ड्राइवर पथ की पहचान पूछ रहा था।

पराशर के साथ उसकी दो चार बातें हुई। आगे का कोई मोड़, छोटे से शहर का नाम, जहाँ पहुँचने पर पता चलेगा कि किधर से जाना है।

सहसा शकुन्तला ने पूछा, 'कितने बजे हैं ?'

आँखों के करीब घड़ी ला पराशर ने कहा, 'लगता है सात बजे हैं।'

'कब तक पहुँचेंगे', पूछते-पूछते भी रुक जाती है शकुन्तला। उसे याद हो आती है कि अभी कुछ देर पहले पराशर ने व्यंग्य किया था, 'तुम तो मेरे साथ क्षितिज के पार तक जाने को तैयार हो, तो फिर यह उतावली क्यों ?'

कभी, किसी जमाने मे, पराशर से सुनी मधुपुर में बने उसके किसी दोस्त के मकान की यादों को ताज़ा करने की कोशिश करने लगती है, शकुन्तला। उस याद के साथ और भी बहुत सी बातें याद आने लगती हैं उसे।

अन्धेरे से डरने वाले बच्चे अन्धेरी जगह पर होते वक्त आँखें बन्द कर लेते हैं, मगर अन्धेरा उससे घटता नही। शकुन्तला भी बच्चों की तरह एक खास याद को भरसक दूर रखने का प्रयास कर रही है कल से, मगर अन्धेरे की तरह वह भी हर वक्त अपनी उपस्थिति जताता रहा है। किसी भी तरह दूर होता ही नही वह।

अगर कही ऐसा हो कि सन्तोष का वह पत्र छल रहा हो ? शकुन्तला की परीक्षा लेने का छल ! तो क्या होगा ? अगर ऐसा ही हुआ हो तो पिछली रात वक्त से तो नही, पर कुछ अधिक रात को वह घर तो आया ही होगा। उसके बाद ? उसके बाद क्या हुआ होगा ? सोच नही पाती शकुन्तला। सोचने का प्रयास करते ही चक्कर आने लगते, बार-बार उसके मन में यह भय जागता और बार-बार वह अपने को इस प्रचण्ड भय से मुक्त करने का प्रयास करती। उसका हरेक प्रयास व्यर्थ होता। बार-बार वह देखती, सन्तोष उस मकान के ताला-बन्द मुख्य द्वार के सामने खड़ा है, और ? और ? और ? उसका दिमाग काम न करता।

इस वक्त शकुन्तला मे यह मानसिक स्थैर्य है ही नही कि वह अपने जीवन पर, अपने कृतकर्मों पर जिज्ञासा उठाये। वह साफ-साफ बता नही सकती कि उसे सन्तोष से कभी प्रेम था या नहीं, यह भी नही बता सकती कि जिसे उसने अब तक पति के प्रति प्रेम समझा वह प्रेम था या भारतीय नारी का जन्मजात संस्कार-मात्र था। पराशर के प्रति उसका यह दुर्दम आकर्षण प्रेम है या केवल मोहमात्र, यह भी शकुन्तला

साफ, स्पष्ट बता नहीं सकती। इस वक्त वह एकमात्र जिस वस्तु के लिये तड़प रही है, वह है अपने किये के समर्थन में जोरदार कारणों का अन्वेषण।

इसलिये शकुन्तला ने बहुत खोज-खाज कर सन्तोष की अनेक गलतियों, अनेक कमियों का आविष्कार कर लिया है। सन्तोष के चरित्र के प्रधान गुण-उसकी सरलता को शकुन्तला मूर्खता का नामान्तर मान रही है। उसकी स्नेहिलता और स्नेहजनित दुर्बलता उसके पौरुष की कमी के द्योतक हैं। शकुन्तला को अब जरा भी सन्देह नहीं कि उसके प्रेम में प्रगाढ़ता नहीं। प्रेम के नाम पर वह जो वितरण करता आया है वह निहायत ही फीका-पनीला जैसा कुछ है।

वैसे यह मानना ही पड़ेगा कि सन्तोष भला आदमी है। उसकी भलाई एक निष्कपट शिशु की भलाई के समान निश्छल है। फिर भी, शकुन्तला मजबूर है। उस जैसी प्रखर बुद्धिशालिनी, व्यक्तित्वमयी महिला के लिये एक सत्चरित्र बालक-मात्र के साथ जीवन बिताना कहाँ तक संभव है?

सोचते-सोचते अचानक छवि की याद आई। बड़ी हँसी आई शकुन्तला को। समय था जब उसने छवि को अपना रकीब समझा था। धत् तेरे! कहाँ वह और कहाँ छवि! सोचा कैसे था उसने ऐसा? छवि क्या कर सकती है? कितना प्राप्त करने की क्षमता रखती है वह? देखे आकर छवि कि जिसे देवता के समान मानती है वह, जिसके आगे सिर नवाने से नहीं अघाती वह, घर-द्वार, कुल-मान सब कुछ पीछे छुड़वा कर शकुन्तला उसे किस प्रकार लिये जा रही है। अभी थोड़ी देर पहले सन्तोष की बात सोचते वक्त उसके मन में जो अपराध-बोध जागा था, जो विषण्णता से विपन्न हो रही थी वह, छवि का ख्याल आते ही वह सब धुल गया। आत्मगरिमा से भर गया उसका मन।

अन्धेरा और भी गाढ़ा हो गया है। सड़क के दोनों किनारों पर लगे पेड़ अब स्पष्ट दिखाई नहीं पड़ रहे हैं। लग रहा है, परछाईं की दीवाल सड़क की रक्षा कर रही है। अन्धकार को चीरती परछाईं की दीवाल को भेदती हेडलाइट जला गाड़ी सड़क के बीच से भागी जा रही है।

खिड़की के बाहर, अन्धकार की ओर दृष्टि जाते ही सहम कर काँप-गई शकुन्तला। अपने भय से मुक्त होने के लिये पराशर से सट कर बैठी है वह।

अभी थोड़ी देर पहले लिये संकल्प को भूल कर शकुन्तला ने फिर धीमे स्वर में कहा, 'जो भी कहो, धाम को चलने का तुम्हारा प्लान ठीक नहीं था। मुझे तो अब ऐसा लग रहा है कि क्रमशः किसी जंगल की गहराइयों में धँसते चले जा रहे हैं हम।'

'सड़क के किनारों पर, गहरे तो नहीं, पर हाँ जंगल हैं तो बेशक।'

'खूब हो जी तुम! एक तो मारे डर के प्राण निकल रहे हैं मेरे, ऊपर से तुम

और डरवा रहे हो। रात बिता अगर सुबह चलते तो क्या बुरा होता ? अच्छा, एक बात बताओ ! गाड़ी में, मधुपुर पहुँचने में अब और कितना वक्त लगेगा ?'

इतने करीब खिसक आई रमणी का एक हाथ मुट्ठी में भर पराशर ने कहा, 'रात बिता कर ? कहाँ बितानी थी एक रात ?'

पराशर के इस अप्रत्याशित आवेग के लिये शकुन्तला प्रस्तुत न थी। अचकचा कर बोली, 'क्यों, उसी जगह जहाँ पिछली रात बिताई थी। और कहाँ ?'

'पिछली रात ? जहाँ पिछली रात बिताई थी ? उसी जगह एक रात और ? क्या तुम समझती नहीं शकुन्तला कि मैं ईंट नहीं, पत्थर नहीं, मनुष्य हूँ मैं। मेरे रगों में भी खून बहता है, मुझे भी चोट लगती है, मेरी भी इच्छायें हैं।'

शकुन्तला की मुस्कराहट चाकू की नोक जैसी चमकी, 'अरे सच ! मैंने तो देख-सुन कर यही समझा कि तुम अवश्य ही ईंट या पत्थर हो।'

मुट्ठी की पकड़ शिथिल हो गई। बन्दी हथेली छूट गई।

सनसनाती हवा में एक दीर्घश्वास खो गया।

खिझ के मारे तिलमिला उठी शकुन्तला।

साधु पुरुष !

साधु पुरुष या कायर ?

नारी होकर शकुन्तला सब छोड़ सड़क पर आ सकी—सर्वस्व की तिलांजलि दे सकी, और इन साधुजी को देखो, कुछ करने-धरने का नाम नहीं, बगल में बैठ उँसासें छोड़ व्यर्थ वक्त गँवा रहे हैं ! धत् तेरे !!

सड़क पर आ सकी !

शकुन्तला ने इस वाक्य को मन ही मन दोहराया।

कैसी विचित्र बात है ! शकुन्तला ने समाज, संसार, गृहस्थी, सब कुछ छोड़ा। कुल और कुल-मर्यादा को त्याग दिया मगर, आश्चर्य इस बात का है कि इतने कुछ के पश्चात् भी एक बार भी तो नहीं लग रहा कि भयानक कुछ हुआ, या, भयानक कुछ होने वाला है। आकाश से गाज नहीं गिर रही है उस पर, पृथ्वी पर, उसके चारों ओर आग की लपटें नहीं झुलसा रही हैं, किसी किस्म की अनहोनी नहीं हो रही है। उसे तो महज ऐसा लग रहा है कि वह सैर को किसी दूर देश जा रही है। लेकिन पहले ? जब वह नीलमणिपुर में रहती थी, तब उसके दूर के रिश्ते के चचिया ससुर की विधवा बेटी एक रात घर छोड़ गई थी। सुनते ही शकुन्तला का जी कैसा-कैसा होने लगा था। रोंगटे खड़े हो गये थे। घृणा और धिक्कार से मन भर गया था। कई दिनों तक रात-दिन वह यही सोचती रही—कैसे ऐसा कर सकी वह ! कैसे ? वह लड़की नितान्त साधारण लड़की थी, और लड़कियों से कोई अन्तर नहीं। अक्सर ही मिलना होता। उसे देख कभी नहीं लगता था कि वह ऐसा कुछ कर सकती है जो

साधारण नहीं। जो भयानक है। उसी लड़की ने जब यह काम कर दिखाया तो शकुन्तला को उसके काण्ड का ओर-छोर न मिला था। सोच-सोच कर वह थक गई, पर समझ में न आया कि ऐसा कैसे हो गया। और आज? आज खुद शकुन्तला कुल-मर्यादा का त्याग कर रही है, कितनी आसानी से, कितना हँसते-मुस्कराते!

जब सबों को मालूम होगा?

क्या होगा तब?

क्या शकुन्तला के नाम पर भी लोग उसी तरह थूकेंगे?

थूकें। जरूर थूकें। बला से।

शकुन्तला की बला से। दिव के मिलन से उसे [illegible]। सारा घाटा-नुकसान बराबर हो जायेगा। [illegible] रूप से उसका होगा वह। [illegible] प्राप्ति उसके हिस्से आई है? [illegible] वह लालायित है, वह उसके हिस्से में आयेगा?

'स्कूल की नौकरी छोड़ [illegible]?'

'छोड़ कर? क्या छोड़ कर?'

इसके पहले, कुछ देर के लिये उस पर थकान की अवसन्नता छा गई थी। सोई नही थी, बस यों ही आँखें मूंदे पड़ी थी। परशार क्या है? क्या चाहते है? शकुन्तला ने क्या छोड़ा, उसके बदले में पाया क्या? अब तक उसकी इच्छा हो रही थी, पास बैठे इस व्यक्ति को मुट्ठी में दबा कर मसल डाले। इसी इच्छा में अब तक उसने अपने सारे कौशल लगा डाले, वाचाल बनी, बेहया बनी, अधीर हुई। लेकिन अब? अब वह इच्छा भी मिटने लगी है। अपनी अक्षमता की लज्जा से सिकुड़ी जा रही है वह।

उसी वक्त, उसके अर्धचेतन मन पर जैसे जोरदार धक्का लगा।

चड़क बाजार!

चड़क बाजार!!

कितना परिचित, मगर कितना अप्रत्याशित है यह नाम। क्या शकुन्तला के मन में पूर्वजन्म की कोई स्मृति जाग उठी? क्या इस एक शब्द के माध्यम से भूले हुये पूर्व-जन्म के किसी अध्याय की स्मृति सामने आयेगी?

आँखें खोल उठ बैठते ही शकुन्तला को एक धक्का और लगा। यह क्या? प्रकृति पर अन्धकार की जो चादर बिछ गयी थी, कहाँ गयी वह? कहाँ गयी वह, न जाने कहाँ ले जाने वाली जनहीन सड़क, जिसके दोनों ओर सदा जाग्रत प्रहरियों की तरह खड़े हैं असंख्य पेड़। हाय हाय, शकुन्तला की किस असतर्कता के कारण गुम हो गई खुले प्रान्तर से आने वाली वह जंगलों की गन्ध? गाड़ी खड़ी है। कस्बों के ढंग पर बनी गन्दी और असुन्दर दूकानों के सामने खड़ी है गाड़ी। उन्ही दूकानों में से एक ने अपना आभिजात्य प्रकट करने के लिये एक तेज रोशनी पंच लाइट लगा रखी है। उसी की रोशनी आँखों पर लगते ही शकुन्तला हड़बडा कर उठ बैठी है। पंच लाइट की तीव्र रोशनी, फिलहाल, शकुन्तला को चौंधियाने के सिवा और किसी काम नही आ रही।

शकुन्तला की गाड़ी के करीब एक बस खड़ी है। झड़झड़िया बस। लगता है, उस शाम की अन्तिम ट्रिप मे जाने वाले यात्रियों की प्रतीक्षा में है वह। शायद इसीलिये, यात्रियों को लुभाने के लिये झड़झड़िया बस के साथ मेल खाता कण्डक्टर गला फाड़ कर चिल्ला रहा है, 'चडक बाजार! चडक बाजार! किसे जाना है चड़क बाजार?'

शकुन्तला ने देखा, दूकान के ताको पर दियासलाई के डिब्बो का ढेर, शीशे की अचारियों, बिस्कुट और लेमनड्राप, दूकान के नीचे सोडा लेमोनेड के बोतलों का संभार। और भी कितनी परिचित-अपरिचित वस्तुओं का समावेश।

यह कौन-सी दूकान है?

क्या शकुन्तला ने इस दूकान को पहले कभी देखा है? अभी हाल में नही, पहले? बहुत दिन पहले? किसी और जमाने में? नही, यह नही, नही हो सकती है। वह तो कोई और दूकान रही होगी। अवश्य ही कोई दूसरी होगी वह। आखिरकार कस्बाई शहरों और उनकी दूकानो का सर्वत्र ही एक-सा ही रूप होता है। अब कलकत्ते की बात ही लीजिये, उत्तर से दक्षिण तक पार्कों के सामने, फुटपाथों या हाकर्स कार्नरों में यह जो हजारो-लाखों दूकानें लगती हैं, प्लास्टिक का सामान, रंगबिरंगे रिबन,

खिलौने और सस्ती छींट की पोशाकों का रेला भरा रहता है जिनमें, क्या उनमें कोई विशेषता है ? है कोई खास पहचान ? और गाँव के नाम ? अरे, यहाँ तो एक ही नाम के बीसों गाँव हैं, शहर भी हैं।

ड्राइवर उतर कर चाय पीने चला गया था। चाय पी कर वह बस-कण्डक्टर से पूछने लगा कि यात्री-मन लुभाने वाला 'चड़क बाजार' पहुँचने का रास्ता किधर से है।

शकुन्तला के मन में घुमड़ती चिन्ता भाषा मे फूट पड़ी।

'हमारे देश में एक नाम की इतनी जगहे क्यों होती हैं ?'

शैतान की आँख की तरह उग्र रोशनी वाली पंच लाइट पर पराशर की दृष्टि जमी थी। शकुन्तला की बात से ध्यान टूटा। चौंक कर कहा, 'क्या कहा तुमने ?'

'कुछ नही।' रोष और क्षोभ से भर कर शकुन्तला बोली, 'तुम्हारी हालत देख-देख मुझे अपने को क्रमशः इतना अपराधी लग रहा है कि क्या बताऊँ ! जी चाह रहा है, गाड़ी के पहिये से पिस कर प्रायश्चित्त करूँ।'

'तुम भी शकुन्तला, कैसी बहकी-बहकी बातें करती हो ?'

गाड़ी में बैठ कर ड्राइवर से दरवाजा बन्द किया।

'सही रास्ते पर हैं तो हम ?'

ड्राइवर ने गर्दन हिला हामी भर कर गाड़ी स्टार्ट की।

'सही रास्ते से क्या मतलब ?'

'सही का मतलब ? पराशर ने निर्लिप्तता से कहा, 'सही का मतलब तुम्हारे 'दारुकेश्वर' तो इस मौसम मे सूख कर रेगिस्तान बने हैं इसलिये। बरसात मे गाड़ी तो चलती नही। उस वक्त तो नाव से ही पार जाना''''

पराशर की बात पूरी होने के पहले, बहुत पहले, बात काट कर तड़पते पक्षी के आर्तनाद-सा शकुन्तला का आर्त स्वर फूटा, 'क्या मतलब ? 'हमारे दारुकेश्वर' से क्या मतलब तुम्हारा ?'

'तुम्हारे तो अवश्य ही हैं दारुकेश्वर। उन्हें पार किये बिना तुम्हारे नील-मणिपुर तो जाया जा नही सकता।'

'नीलमणिपुर ! हम नीलमणिपुर जा रहे हैं ?' खून जम कर बर्फ हो गया है। हाथ-पाँव के साथ न देने के कारण चलती गाड़ी से कूद पड़ने की इच्छा भी व्यर्थ हो जाती है।

'हाँ। हम नीलमणिपुर जा रहें हैं।'

'यह बात है ! अब आई समझ में। यह दोस्तों की मिली-जुली योजना है। असती पत्नी को सीख देने की नई परिकल्पना।'

'शान्त हो जाओ शकुन्तला। मुझ पर इतना कठोर मत बनो। मुझे कमजोर

होने से बचाओ। मैं हार के कगार से बड़ी मुश्किल से लौट पाया हूँ।'

'अरे जाओ, जाओ! तुम्हारे जैसे सज्जन बहुत देखे हैं मैंने। खैर, कोई बात नहीं, गाड़ी रुकवाओ। मैं यहीं उतर जाऊँ।'

'पागलपन छोड़ो शकुन्तला।'

'हाथ छोड़ो मेरा। छोड़ दो····ए ड्राइवर, गाड़ी रोको।'

सरदार जी पीछे गर्दन घुमा कर देखते हैं। पराशर दा[illegible]नता से कहता है, 'नहीं जी नहीं, और थोड़ा, दाहिने तरफ और थोड़ा····'

सड़क ठीक नहीं।

सरदार जी आगे जाने से इन्कार करते हैं। स्वर्ण-मृग का लालच दिखा पराशर उन्हें थोड़ा और आगे जाने को प्रोत्साहित करता है। ढेर सारी बेकार की बातें कर डालता है उनके साथ। लगता है गाड़ी में ड्राइवर और पराशर के अलावा कोई है ही नहीं।

'और थोड़ा, बस, बस। बहुत साल पहले एक बार आया था। लेकिन आज मैं ठीक पहचान गया हूँ। ठीक जगह पर आ गये हैं हम।'

गाड़ी का दरवाजा खोल पराशर उतरा। जरा हट कर दरवाजा पकड़ खड़े हो उसने कहा, 'आओ शकुन्तला। तुम्हें तुम्हारे सही पते पर ले आया हूँ मैं। हाँ, बिल्कुल सही पते पर। आओ।'

'नहीं।' शकुन्तला कठिन हो बोली।

'नहीं मत कहो शकुन्तला। कहो हाँ। हो सकता है आज तुम मेरी बात समझ न सको। क्रोध और क्षोभ से बौखला जाओ, मुझे धोखेबाज समझो, आगे चल कर तुम एक-न-एक दिन अवश्य मानोगी कि मैंने आज जो किया, ठीक किया। इसके अलावा कुछ और नहीं कर सकता था मैं। जिसमें तुम्हारा कल्याण नहीं, वैसा कार्य करना मेरे बस की बात नहीं।'

बर्फ जैसे सर्द स्वर में एक प्रश्न उछला,

'क्या इसी में मेरा कल्याण है?'

'हाँ शकुन्तला, इसी में तुम्हारा कल्याण है। आते वक्त देखा नहीं तुमने, सड़क के किनारे-किनारे पेड़ आकाश में सिर उठाये खड़े हैं। कैसे उठ सके हैं वे इतने ऊँचे? कैसे उठा सके हैं सिर? इसीलिये न कि उनकी जड़ें धरती में बहुत दूर तक, बहुत गहराई तक फैली हैं? मनुष्य को भी धरातल की जरूरत है, समाज और संस्कार, नीति और शृंखला का मजबूत धरातल जहाँ जम सकेंगी जीवनदायिनी जड़ें।'

गाँव घर का परिवेश।

शाम को आठ बजते-बजते ही आधी रात का सन्नाटा छाने लगता है।

आयु की बोझ लादे वह पुराना मकान, अन्धेरे में, सोया पड़ा दानव-सा लग रहा था। बाहर जितना अन्धेरा उतना ही सुनसान, अन्दर के भागों में भी प्राणों का स्पन्दन है ऐसा प्रतीत नहीं होता।

जराजीर्ण उस मकान पर एक दृष्टि डाल उसने बहुत ही ठण्डेपन से एक प्रश्न और पूछा, 'यही तुम्हारी राय है ? तो फिर अपनी कलम से जो कुछ लिखते हो वह सब झूठ है ? सब नकली है ?'

'शायद सभी झूठ नहीं। नकली भी नहीं। शायद चिन्तन के क्षेत्र मे यह मेरी राय भी नहीं शकुन्तला। एक बात मगर याद रखना। एक स्थिति आती है जहाँ बुद्धि, तर्क, साहस और प्रगति सभी मात खा जाते हैं। यह है अपने प्रियजनों के कल्याण की स्थिति। मेरे उपन्यास की नायिका को मैं बेहिचक उसके प्रियतम का हाथ पकड़ा सड़क पर, निकाल सकता हूँ, खुले आकाश के नीचे खड़ा कर सकता हूँ, मगर अपनी प्रियतमा को नहीं।

कुण्डे के खड़कने की आवाज सुन, लालटेन हाथ में लिये निशिकान्त बाहर आते हैं। आते ही, मोटर देख घबरा कर पूछते हैं, 'कौन ?'

इस मकान के द्वार पर गाड़ी शायद यही पहली बार आई है।

सन्तोष की शादी आषाढ में हुई थी। भरी बरसात मे सड़क की हालत ऐसी न थी कि गाड़ी आ सके। इसलिये वर-वधू बैलगाड़ी से आये थे। गाड़ी खड़ी देख बेचारे बूढ़े के मन में जो आतंक छा गया, वह था पुलिस का आतंक। पिछले दिन बिना वजह सन्तोष आया है। बार-बार पूछने पर भी अचानक आने की कोई ठीक-ठाक वजह नहीं बताता है। यह भी नहीं बताता कि वह अकेला क्यों आया, बहू को कहाँ रख आया। और अब यह गाड़ी। राम जाने क्या करके आया है !

लेकिन उनका आतंक दीर्घस्थायी नहीं होता।

गाड़ी से उतर कर वह सामने आया। अपना परिचय देता हुआ बोला, 'मैं पराशर हूँ। सन्तोष का दोस्त। उसकी शादी में आया था। आपको शायद याद नहीं। वैसे हो भी गई बहुत पुरानी बात।'

निशिकान्त ने पहचाना तो नहीं, पर पीछे कैसे रहते। बोले, 'अरे नहीं, बेटा, पहचानूंगा क्यों नहीं। अन्दर आओ। कैसे आना हुआ ?'

'सन्तोष आया है ?'

'हाँ।' निशिकान्त का स्वर चिन्ता से भाराक्रान्त हुआ। धीमे से बोले, 'हाँ, कल शाम को आया है। पहले से हमें कुछ पता न था। क्या हो गया है बेटा ? हमें बताओ। क्या दफ्तर में कुछ ··'

'नहीं, नहीं। ऐसी कोई बात नहीं। दफ्तर में सब ठीक है। यह और मामला है। आकर उसने क्या कहा ?'

'अरे, क्या बतायें। पूछने पर कहता है माँ को देखे बहुत दिन हो गये थे, इस-

लिये चला आया। तुम ही बताओ बेटा, यह भी कोई बात हुई? बच्चा यहाँ अकेला पड़ा है, बहू को लाया नहीं, मेरे तो समझ में कुछ आ नहीं रहा है। अब यह बताओ, अगर कुछ गड़बड़ है ही नहीं, तो तुम उसे पूछते हुये कैसे चले आये?'

'क्यों आया?' पराशर हँसने लगा, 'पागलों के पल्ले पड़ गया था मैं, इसलिये मजबूर होकर आना पड़ा। फिर कभी बताऊँगा आपको आपके लड़के के पागलपन की दास्तान। वह तो कल आया। दूसरी मुजरिम को पकड़ लाया हूँ—बुला लीजिये। गाड़ी में आपकी पुत्रवधू बैठी हैं।'

'अरे! बहू! गाड़ी में बहू! अब। समझा उस बदमाश ने लड़ाई-झगड़ा किया होगा बहू से। अबे सन्तो''''चल इधर आ, जरा सामने आ, देखूँ तुझे। लड़-झगड़ कर आया है और आठ बजते-बजते सोने लगा। अरे राम-राम-राम! पता होता तो कल उसे घुसने न देता। आओ बहू, आ जाओ। मुझे क्या पता था? घर की बहू, घर-लाज-शोभा, तब से बाहर बैठी है। तुम भी बेटी कैसी हो? तुम्हारा ही घर-द्वार है, तुम्हें क्या मैं बुलाने जाऊँ? आओ बेटी आओ। बच कर आना, सामने गड्ढा है, देख कर चलना। ठीक है, ठीक है बेटा, प्रणाम करने को बहुत अवसर मिलेंगे। तुम घर में जाओ। बिल्टू के तो बड़े शुभ दिन आ गये हैं लगता है। कल बाप आया, आज माँ आई। रात-दिन 'माँ' 'माँ' की रट लगाये रहता है। ले आ गई माँ, अब चढ़ जा गोदी में। रोक ले जाने से।' खुशी से अधीर होते निशिकान्त ने सोये पड़े बिल्टू को ला कर शकुन्तला के सामने खड़ा कर दिया।

शकुन्तला को समझ पाना सम्भव नहीं। यह उसे क्या हुआ? क्या वह क्षोभ के मारे मूक हो गई? क्या उसने अपने विद्रोह की शक्ति को खो दिया? या वह परिवेश की दास-मात्र है? अगर नहीं, तो बिल्टू के सामने आते ही, इतने अभ्यस्त ढंग से उसे गोद में कैसे उठा लिया?

सात

गाड़ी का दरवाजा बन्द हो चुका है। ड्राइवर ने इंजन चालू भी कर दिया है, फिर भी खिड़की से हाथ बढ़ा सन्तोष ने पराशर का हाथ पकड़ रखा है। भर्राये-स्वर में कहा उसने, 'क्यों जा रहा है पराशर? रुक जा रात भर। तू इस तरह चला जायेगा तो मैं यही सोचूँगा कि तू मुझसे नाराज है। माफ नहीं किया है तूने मुझे।'

सन्तोष के हाथ पर अपनी पकड़ कस कर पराशर अपने को काबू में करने का प्रयास करता रहा। भर्राई आवाज में बोला, 'अभी तक तो यही नहीं तय हुआ कि किसे किसको माफ करना है रे! तेरी बीवी को ले उड़ते-उड़ते रुक गया मैं, और तू मुझी से माफी माँग रहा है? किस रंग का है रे तू?'

'पराशर!'

'अच्छा, अच्छा, अब नहीं कहूँगा। चिन्ता मत कर यार, वक्त आने पर सब ठीक हो जायेगा। अरे हाँ, यह ले। तेरे कलकत्ते के मकान की कुंजी। मुझे मत रोक भाई, मैं रह नहीं सकता। ड्राइवर से मेरा यही फैसला हुआ है कि मुझे वापस पहुँचाने पर ही उसे किराया मिलेगा।'

अन्धेरे को चीरती गाड़ी हाइवे पर उड़ी जा रही थी। सन्नाटा और अन्धकार का विरोध कर रहा था हेडलाइटों का तीव्र प्रकाश और ड्राइवर के हाथों बजता हार्न। सड़के के दायें-बायें लगे पेड़ उन्नत-मस्तक प्रहरी जैसे लग रहे थे। लग रहा था, उन्होंने एक ऊँची, बहुत ऊँची दीवाल, प्रतिरोध की दीवाल खड़ी की है। ये वही पेड़ हैं, जिनकी जड़ें जमीन में बहुत दूर तक फैली हैं, ताकि पेड़ सिर उठा कर खड़े हो सकें।

अचानक आये तूफान के थपेड़े से उखड़े जिस पेड़ को पराशर फिर से रोप आया, उसका भविष्य कैसा होगा? क्या वह तूफान में एक बार उखड़ने के कारण धूल पर ही लोटेगा, या इन गर्वोन्नत पेड़ों की तरह सिर उठा कर आकाश में अपनी डालें-डंगाले लहरायेगा?

हे ईश्वर, उसे खड़ा करना, खडा रहने देना।

यही प्रार्थना है। एकाग्र प्रार्थना।

एक प्रश्न है। क्या प्रार्थना और वेदना एक ही लोक के निवासी हैं?

हेडलाइट के तीव्र प्रकाश से सड़क जगमगा रही है, पर गाड़ी के अन्दर अन्धकार-ही-अन्धकार है। हाथ को हाथ नही सूझ रहा, जो कुछ जाना-बूझा जा रहा है, वह अनुभूति सापेक्ष है।

अगर आरोही खिड़की से सट कर बैठा हो तो इस निरन्ध्र अन्धकार में यह भी न सूझे कि बाकी सीट खाली पड़ी है। इस कारण बार-बार सीट के खाली हिस्से पर हाथ फेर अपने को आश्वस्त करना पड़ता है कि, है, खाली ही है।

खाली हिस्से पर हाथ रखते भी डर-सा लगता है।

कही ऐसा तो नही कि सीट को टटोलता यह हाथ अकस्मात् एक कोमल नारी शरीर को छू जायेगा? कही ऐसा तो नही कि क्षोभ से भर वह मानिनी सीट के कोने मे दुबकी पड़ी है?

डर लगता है, फिर क्यों? किस आशा में सीट पर बार-बार हाथ फेरना?

गलत! सब गलत! सब भूठ!

पूरा परिवेश शून्यता और सन्नाटे के कारण भयावह।

अभी कुछ देर पहले इसी रास्ते से गया था न पराशर? या यह भी गलत है? एक भयानक डरावना स्वप्न-मात्र? पर, ऐसा हो कैसे सकता है?

इस भीषण अन्धकार में, इस भयावह सन्नाटे में भी एक अतिपरिचित सौरभ का हवा में, विदेही आत्मा की तरह, संचालन हो रहा है न? क्या यह सौरभ किसी केश-तैल का नहीं है?

किसी एक रात को, उज्ज्वल प्रकाश से झलमलाते एक सुसज्जित कक्ष में इस मधुर सुगन्ध की मादकता ने ही तो पागल बना रखा था पराशर को। उसके प्रतिरोध का गला घोंटने का पूरा प्रयास किया था। पराशर खुद तो यह तेल कभी नही लगाता, फिर यह खुशबू यहाँ कैसे आई?

साल और यूकलिप्टस की मिली-जुली खुशबू, वनफूलो और वनतुलसी की कुछ परिचित कुछ अपरिचित-सी गन्ध। हवा के झोके के साथ आई किसी जगह पर वन-चम्पा या जूही की तीव्र सुगन्ध, इन सबो को दबाती, रौदती तेल के मृदु-गन्ध ने पराशर की चेतना पर किसी विदेही आत्मा की तरह अपने को प्रसारित कर लिया है। पराशर की चेतना के अणु-अणु मे अपनी उपस्थिति घोषित कर बिलख रही है। क्या पता, इसके हाथों से पराशर कभी मुक्त हो भी सकेगा, या नही?